जपसूत्रकार स्वामी प्रत्यगात्मानन्द चरितामृत

प्रीति चट्टोपाध्याय

जपसूत्रकार

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द चरितामृत

(श्रीमत स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती गुरु महाराज के जपसूत्रम् और उनके ही मुंह से निकली वाणी के आधार पर रचित कुछ निबंध)

श्रीगुरु चरणाश्रिता

प्रीति चट्टोपाध्याय

हिंदी अनुवाद

डॉ. अवधेश प्रसाद सिंह

जपसूत्रकार स्वामी प्रत्यगात्मानन्द चरितामृत

सेठ बालकृशनलाल पोद्दार चैरिटेबल ट्रस्ट
10, डोवर पार्क, कोलकाता - 700 019
के आर्थिक अनुदान से प्रकाशित

प्रथम संस्करण
अक्षय तृतीया, 1410

प्रकाशिका
प्रीति चट्टोपाध्याय

प्राप्ति स्थान
महेश लाइब्रेरी
श्यामाचरण दे स्ट्रीट
कोलकाता - 700 073

16 भवानन्द रोड
कोलकाता - 700 025
दूरभाष - 2466 8430

मुद्रक
अमृताक्षर
7/1बी ग्रांट लेन
कोलकाता - 700 012

मूल्य
40 रुपये

नमन

कुछ समय पूर्व पूज्यपाद गुरुदेव स्वामी प्रत्यगात्मानन्दजी के संबंध में चर्चा करते हुए विद्वान मनीषी परम श्रद्धेय श्री गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय ने पूछा "क्या तुमने प्रीति चट्टोपाध्याय का बंगला ग्रन्थ 'स्वामी प्रत्यगात्मानन्द चरितामृत' पढ़ा है।" मैंने कहा प्रीति अर्थात बुजू (डाक नाम) ने पूज्यपाद पर किस ग्रन्थ की रचना की है। गोविन्द दा ने कहा कि तुम इसे पढ़ो और संभव हो तो इसका हिन्दी भाषान्तर कर प्रकाशित करवाओ। यह ग्रंथ पूज्यपाद के जीवन और व्यक्तित्व, साधना और सिद्धि की प्रामाणिक और विशिष्ट कृति है। मैंने प्रीति से संपर्क कर वह ग्रन्थ मंगाया और पढ़ा। प्रीति का पूरा परिवार – माता-पिता सभी स्वामी जी के अनन्य भक्त थे और उनके स्नेहभाजन भी। ग्रन्थ का परिशीलन कर मैंने तत्काल श्री बृजेन्द्र कुमार पोद्दार से संपर्क कर उनसे निवेदन किया कि वे उसके प्रकाशन की व्यवस्था करें। उनके पिता श्री भी पूज्यपाद के परम भक्त थे और पूज्यपाद कई बार उनकी कोठी में रहे भी। श्री बृजेन्द्र कुमार पोद्दार ने अपनी सहमति दी और इसके भाषान्तर एवं प्रकाशन की आर्थिक व्यवस्था भी कर दी। मैंने अपने परम अंतरण शिष्य एवं सहयोगी विद्वान डॉ. अवधेश प्रसाद सिंह को इस कार्य का उत्तरदायित्व सौंपा। उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और यह ग्रंथ (हिन्दी में) प्रकाशित हो गया।

प्रीति ने इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में पूज्यपाद के जीवन, व्यक्तित्व एवं योग साधना की प्रभावी एवं प्रेरक प्रस्तुति की है और इसका उन्हें पूर्ण अधिकार भी है। मुझे स्वयं ऐसी सूचनाएं मिलीं, जिनका मुझे भी ज्ञान नहीं था। प्रीति के शब्दों में "अत्यन्त कम आयु में मुझे स्वामी जी के साथ रहने का सौभाग्य मिला था। इसका कारण यह था कि मेरे पूज्य माता-पिता उनके प्रिय और प्रथम शिष्य-शिष्या थे। अन्तिम छह-सात वर्षों तक मैं उनके ग्रंथों का पाठकर उन्हें सुनाती थी और वे प्रसन्न होकर कहते थे "देख रहा हूँ देवी माँ ने इसके द्वारा कितना कुछ लिखवा लिया है।" वे जपसूत्रम को देवी माँ की देन कहते थे। उन्होंने कभी भी 'मैं' शब्द का उच्चारण नहीं किया। हमेशा कहते थे 'यह शरीर' अथवा मात्र 'यह'।

ग्रंथ के प्रयोजन और प्रकाशन के संबंध में प्रीति का कथन है "कुछ विशेषणों के द्वारा मैं उन्हें बाधना नहीं चाहती हूँ। X X X उनके ग्रंथों में साधना से प्राप्त सिद्धि और वर्तमान युग के लिए योग विज्ञान पर आधारित वास्तविक तथ्यों की भी जानकारी थी। X X X मंत्र केवल शब्द नहीं होते। उनका गहण प्रभाव पड़ता है।"

प्रस्तुत ग्रंथ के दो भाग हैं। प्रथम भाग में पूज्य गुरुदेव के जीवन का सांगोपांग चित्रण है और दूसरे में प्रीति ने जपसूत्रम के आधार पर जप की व्याख्या की है और वाक् के विभिन्न प्रकारों – बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा पर गंभीर विचार किया है। वह कहती है "शब्द और अर्थ और प्रत्यय के बीच गहरा संबंध होता है। मंत्र के शब्द अर्थ और प्रत्यय के बीच गहरा

संबंध होने पर उसे 'समर्थ मंत्र' कहा जाता है। केवल जप के लिए ही नहीं, अपितु जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए व्याहरण आवश्यक है। X X X छंद को क्रम रूप से पांच पर्वो में विभाजित किया जाता है – परिणयी, अन्वयी, समन्वयी, महासमन्वयी और परम समन्वयी।" ये कथन इसके प्रमाण हैं कि पूज्यपाद के दर्शन, अध्यात्म और जप-मंत्र आदि की प्रीति ने गंभीर और सटीक व्याख्या की है।

इस कृति के लिए मैं प्रीति चट्टोपाध्याय, श्री बृजेन्द्र कुमार पोद्दार और डॉ. अवधेश प्रसाद सिंह को साधुवाद करता हूँ। मुझे विश्वास है कि यह कृति पूज्यपाद स्वामी जी के सिद्ध व्यक्तित्व, कृतित्व और साधना सिद्धि को हृदयंगम करने में सहायक होगी। श्रद्धेय डॉ. गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय का भी कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इस ग्रंथ का ध्यान दिलाकर इसके प्रकाशन की प्रेरणा दी।

कल्याणमल लोढ़ा

निवेदन

श्रीमत स्वामी प्रत्यगात्मानन्द जी महाराज की जीवनी श्लोक मंजरी के प्रथम स्तवक में पहले ही प्रकाशित हो चुकी है। स्वामी जी को इसे पढ़कर सुनाने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ था। इसे ही और विस्तृत रूप में प्रकाशित करने का प्रयास किया जा रहा है। पर मेरी लेखनी में इतनी क्षमता नहीं है कि उनके जीवन को अभिव्यक्त कर सकूं। वे तो इस लोक के वासी ही नहीं थे। अपनी बुद्धि एवं युक्ति द्वारा उनकी जीवनी की व्याख्या करने में कुछ गलती न हो जाए इसीलिए उनके बारे में जो भी थोड़ी बहुत जानकारी मेरे पास थी, उसे अतिरंजित न करते हुए बहुत ही संयत रूप में प्रस्तुत कर रही हूँ। कुछ विशेषणों के द्वारा उन्हें मैं बाँधना नहीं चाहती हूँ। इसे ही पढ़कर पाठकों के मन में जो भाव आएं, उन्हीं के अनुसार स्वामी जी को देखें, अनुभव करें। उनके ग्रन्थों के माध्यम से उनका परिचय और भी अच्छी तरह से मिलता है। उनके ग्रन्थों में केवल ज्ञान ही नहीं भरा है, वरन उनको साधना से प्राप्त उनकी सिद्धि और वर्तमान युग के लिए उपयोगी विज्ञान पर आधारित वास्तविक तथ्यों की जानकारी भी उसमें दी गई है। प्रत्येक अक्षर का तात्पर्य समझाते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि मंत्र का ध्वनिगत प्रभाव कैसे पड़ता है। मंत्र केवल शब्द नहीं होते। उनका गहन प्रभाव पड़ता है। यही इनके ग्रन्थ की अभिनव विशेषता है। इसीलिए मेरा ऐसा विश्वास है कि स्वामी जी ईश्वर-प्रेरित अलौकिक पुरुष थे।

अत्यन्त कम आयु में ही मुझे स्वामी जी के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसका कारण था मेरे परम पूज्यनीय माता-पिता उनके प्रथम शिष्य एवं शिष्या थे।

अन्तिम 6-7 सालों में मैं नियमित रूप से उनके ही ग्रन्थों का पाठ कर उन्हें सुनाती थी। इससे वे अत्यधिक आनन्दित होते और कहते "देख रहा हूँ देवी माँ ने इसके द्वारा कितना कुछ लिखवा लिया है।" वे सदैव 'जपसूत्रम' के संबंध में कहते थे कि यह देवी माँ की देन है। जपसूत्रम के पाँचवे खण्ड की भूमिका में इसे उन्होंने स्पष्ट भी किया है। इस प्रसंग में मुझे एक और बात याद आ रही है – वे अपने लिए 'मैं' शब्द का कभी भी उच्चारण नहीं करते थे -- हमेशा कहते थे 'यह शरीर' अथवा 'यह'। जब मैं उन्हें ग्रन्थ को पढ़कर सुनाती थी तब वे 'मुझसे' न तो कुछ कहते थे और न ही कुछ समझाते थे। फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि धीरे-धीरे कोई मुझे सब कुछ समझा रहा है। हालांकि इसके पहले मैंने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया था, इसलिए मुझे अपने अन्दर एक प्रकार का आनन्द प्राप्त होता था। जपसूत्रम में मौनसंगति को उत्तमसंगति कहा गया है। शायद इसी के प्रभाव से ऐसा होता था।

उन्होंने बाद में मुझे आदेश दिया था कि मैं उनके ग्रन्थों के विषय में कुछ लिखूं ताकि विषय कुछ सहज-सरल हो सके। उनकी जीवितावस्था में दो ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए थे – 1. व्याहरण मामनुस्मरण एवं 2. जप से मंत्र चैतन्य एवं शक्तिस्फुरण। उन्होंने इन ग्रन्थों को देखा भी था। इनके अतिरिक्त उनके विचारों के आधार पर कुछ और निबंध भी यहाँ शामिल किए गए हैं। ये लेख सहज बोधगम्य एवं कार्यकारी बन पड़े हैं या नहीं पाठक स्वयं इस पर विचार करें। मैंने तो केवल स्वामी जी के आदेश का पालन किया है।

अन्त में यह कामना करती हूँ कि जिनके अथक प्रयास एवं परिश्रम से यह पुस्तक प्रकाशित हुई है, उनपर स्वामी जी का आशीर्वाद सदैव बना रहे।

प्रीति चट्टोपाध्याय

जपसूत्रकार

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द के ग्रंथ

1. Approaches to truth
2. Patent Wonder
3. Metaphysics of Physics
4. Science and Sadhana
5. Yantram
6. Fundamental unity of human races and cultures
7. Malli Bithika
8. Mean yon
9. इतिहास ओ अभिव्यक्ति
10. चलार पथे
11. फेरार पथे
12. श्यामल ओ धूमल
13. माप्रपन्नार्त्तिहरा
14. आश्रमे पहला बैशाख
15. आश्रमे सरस्वती पूजा
16. तपोवनेर वाणी
17. कुरुष्व मदर्पणम्
18. वेद ओ विज्ञान
19. पुराण ओ विज्ञान
20. जपसूत्रम् प्रथम भाग – षष्ठ भाग
21. विचित्रा श्लोक मंजरी (प्रथम स्तवक)
22. विचित्रा श्लोक मंजरी (द्वितीय स्तवक)
23. संकलन
24. निवासः शरणं सुहृत्
25. Japasutram (English)
26. भारतेर मर्मवाणी
27. हिंदू षड्दर्शन
28. पारेर कोड़ि (स्वामी जी का उपदेशामृत)

अलौकिक पुरुष स्वामी प्रत्यगात्मानन्द

(1)

लगभग ढाई सौ वर्ष पहले की बात है। कटवा लाइन के पहले स्टेशन का नाम है – दाईहाट। कई कोस भीतर जाने पर चाण्डुली नामक एक गांव था। इस गांव की मिट्टी बंगलादेश की तरह नरम नहीं थी। चारों ओर कहीं पहाड़ दिखाई नहीं पड़ने पर भी पश्चिमी प्रांतों की तरह एक रुक्षता का भाव व्याप्त था। इसी कठोर आवरण ने उस गांव की नमनीयता और कमनीयता को छुपा रखा था। इस गांव में दुर्गाप्रसाद एवं रामप्रसाद बनर्जी नामक दो सहोदर भाई रहते थे। इन्हीं के नाम पर गांव का नाम पड़ा था 'बनर्जी पाड़ा'। उनके घर में देवी तारा माँ की प्रतिष्ठा की गई थी। देवी माँ कहीं भी अकेली नहीं रहती हैं इसीलिए उनके घर में शिव की प्रतिष्ठा भी की गई थी। इसी शिव मन्दिर में बैठकर दुर्गाप्रसाद साधना किया करते थे एवं लाल चन्दन से अपने मन के भाव लिखा करते थे। देवी तारा माँ ने एक दिन प्रसन्न होकर उन्हें अपने दर्शन दिए एवं उनसे बातें भी कीं। इस प्रकार सफेद कपड़ों में दुर्गाप्रसाद एक गुप्त योगी थे।

छोटे भाई रामप्रसाद का स्वभाव दुर्गाप्रसाद से एकदम उल्टा था। वे सजने-सँवरने के शौकीन थे तथा कभी-कभार नशा भी कर लेते थे। एक बार उन्होंने तम्बाकू पीने के बाद उसकी राख मन्दिर की तरफ फेंक दी। मन्दिर का दरवाजा खुला था, अतः राख उड़कर भीतर चली गई। भ्राता दुर्गाप्रसाद उस समय किसी कार्य से दूसरे स्थान पर गए हुए थे। मन्दिर के समीप वटवृक्ष पर एक ब्रह्मदैत्य वास करते थे। उन्होंने दुर्गाप्रसाद के समक्ष प्रकट होकर उनके भाई के कारनामे को बताते हुए कहा – "तुम्हारे भाई ने अन्याय किया है इसीलिए मां ने उसे कठोर सजा दी है। उसका जीवन संकट में है।" दुर्गाप्रसाद ने विनय के स्वर में कहा - "इतने छोटे अपराध के लिए इतनी कड़ी सजा। कृपा करके इसके निराकरण के लिए कुछ उपाय बताएं।"

इस पर ब्रह्मदैत्य ने कहा – "तुरन्त घर जाकर मनुष्य के शरीर के बराबर गड्ढा खोदो एवं सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक सूर्य को अर्घ्य प्रदान करो, तभी तुम्हारे भाई की रक्षा हो सकेगी।" दुर्गाप्रसाद तुरन्त घर पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि भाई की हालत काफी गम्भीर है, उसे खून की उल्टियाँ हो रही थीं। घर में रोना-पीटना मचा था। दुर्गाप्रसाद ने तुरन्त कुछ लोगों को बुलाया और आँगन में मानव की ऊंचाई भर का गड्ढा खोदा गया। अगले दिन प्रातः से ही दुर्गाप्रसाद ने सूर्य को अर्घ्य देना आरम्भ किया। अपने भाई की सजा को कम कराने के लिए उन्होंने सूर्यास्त तक अर्घ्य दिया। कार्य समाप्त होते ही उनके भाई की हालत में तेजी से सुधार होने लगा। दुर्गाप्रसाद ने अपने योगासन की बुनियाद कमजोर मिट्टी से स्थापित नहीं की थी। दुर्गाप्रसाद ने दीर्घायु पाई थी। उनके शरीर त्याग करने के पश्चात भी

उनकी साधना भूमि वैसी ही बनी हुई थी। परवर्ती वंशधरों ने बहुत बार मन्दिर की भीतरी दीवारों पर लिखा देखा – "एक बार डंका बजाकर बैठो? देखो तो सही मन कैसे काला रह सकता है!"

(2)

दुर्गाप्रसाद के भानजे बैकुंठ मुखोपाध्याय का लालन-पालन बचपन से ही ननिहाल में हुआ था। बड़े होने पर उनके घर श्री मधुसूदन का आगमन हुआ। घर में एक तरफ देवी तारा माँ, दूसरी तरफ शिव की स्थापना। परन्तु जब किसी के घर शिव करुणाधन रूप में प्रकट होना चाहते हैं तो वे उससे तपस्या करवा लेते हैं। तप के प्रभाव से ही तो मालिन्य दूर करना होता है। अश्रुजल से धुले आसन पर ही प्रभु विराज करना चाहते हैं। मधुसूदन की पत्नी पुत्र सन्तान के लिए व्याकुल होने लगी। उन्होंने केशवभारतीय आश्रम में धरना दिया – भगवान का आसन डोल गया। देववाणी सुनाई दी – "तुम्हें दो पुत्र सन्तानों की प्राप्ति होगी - पहली सन्तान का जन्म रामनवमी को और दूसरी का कृष्ण जन्माष्टमी को।" ईश्वर की कृपा से निर्दिष्ट दोनों दिनों को दो पुत्रों का जन्म हुआ – श्री मन्मथनाथ एवं श्री प्रमथनाथ।

(3)

अंग्रेजी साल 27 अगस्त 1880। बांग्ला 12 भाद्र 1287, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी तिथि। गृहदेवी तारा माँ ने जैसे अपने घने केशों से सारे प्रकाश को ढक लिया। चारों तरफ अन्धकार छा गया। बीच-बीच में विद्युत की झलक से थोड़ा सा प्रकाश दिखाई दे रहा था, मानो देवी माँ की मधुर मुस्कान की छटा बिखर रही हो। उसी अंधकार के बीच किसी के आगमन की ध्वनि मुखरित होने लगी। रात में भारी वर्षा हो रही थी और उसी रात को मालदह में श्री प्रथमनाथ का आविर्भाव हुआ था। पिता मधुसूदन उस समय मालदह में सरकारी कर्मचारी थे। माता की स्नेहपूर्ण छत्रछाया में शिशु बड़ा होने लगा। अकस्मात केवल डेढ़ वर्ष के शिशु को छोड़कर माँ का देहान्त हो गया। मातृस्नेह से वंचित शिशु का लालन-पालन निःसन्तान विधवा बुआ करने लगी। मातृहीन बालक बुआ की स्नेहछाया में धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

बालक की शैतानियाँ बढ़ती जा रही थीं। वे एक बार नौका द्वारा मालदह से चाण्डुली जा रहे थे। साथ में एक हाँडी अमौट था। बालक बुआ से अमौट देने के लिए जिद करने लगा। बुआ ने एक टुकड़ा अमौट बालक के हाथ में रख दिया परन्तु बालक का मन उतने से नहीं भरने वाला था। उसे पूरा अमौट चाहिए। दूसरी ओर स्नेहशीला बुआ बहुत ही हिसाबी थी। वे सारा कैसे दे सकती थीं। बस आरम्भ हो गया उनपर प्रहार। बालक ने बुआ पर प्रहार करते हुए उनके बाल पकड़कर खींचना आरम्भ कर दिया। उसका यह व्यवहार देखकर गंगा स्नान करते हुए एक वृद्ध व्यक्ति ने विरक्त होकर कहा "ऐसा बालक तो सारे भारत.में नहीं देखा"। भविष्य में उनकी वाणी सच साबित हुई।

इसी प्रकार मालदह से चाण्डुली जाते समय घाट पर नौका बाँधकर उनके पिता अन्य लोगों के साथ बैठकर दोपहर के भोजन के लिए खिचड़ी बना रहे थे। अचानक बालक दौड़ता हुआ आया और एक मुट्‌ठी बालू खिचड़ी में डाल दी और खिलखिला कर हँसने लगा।

और एक बार की बात है। दोनों बच्चों को लेकर पिता मधुसूदन नानी के पास से लौट रहे थे। रास्ते में वे रुककर मित्रों के साथ भोजन आदि की व्यवस्था करवा रहे थे। दोनों बच्चे नाव में आराम से गहरी नींद में सो रहे थे। घाट पर कई नावें बँधी थीं। संध्या होने वाली थी और चारों तरफ अंधेरा छाने लगा था। अचानक ही नींद से उठकर बालक (प्रमथनाथ) गंगा में कूद गया। गंगा के घाट पर एक पण्डा ब्राह्मण बैठा था। उसने जैसे ही यह देखा वह भी गंगा में कूद पड़ा। भादो की गंगा, लबालब भरी हुई थी। नारी अपने प्रथम मातृत्व के समय जिस सर्वांग यौवन से मदमाती रहती है वैसे ही यौवन से भरी थी भादो की गंगा। नदी के जल में डूबते-उतराते बालक को पंडा ब्राह्मण ठीक से पकड़ नहीं पा रहा था। शोर सुनकर गंगा के किनारे बैठे लोग एकत्रित हो गए और किसी तरह से दोनों को निकाला गया। निकालने के बाद एक नौकर जब बच्चे के कपड़े बदल रहा था तो उसने पूछा मेरे कपड़े क्यों बदल रहा है। जल में डूबकर एक बूँद पानी भी उनके गले में नहीं गया; यहां तक की उनकी नींद भी नहीं खुली। सभी लोग आंश्चर्यचकित रह गए। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि माँ गंगा ने अपने प्रिय बालक को अपनी गोद में लेकर उसका सर्वांग चुम्बनों से भर दिया एवं महान कार्य करने की प्रेरणा देकर उसे लौटा दिया। अगले दिन वहाँ का पानी नापकर देखा गया तो उस स्थान की गहराई 20 हाथ अर्थात एक बाँस थी। यदि बालक किसी तरह निकट बंधी हुई नौका के नीचे चला जाता तो उसका अता-पता ही नहीं चलता। ईश्वर की कैसी अद्‌भुत लीला है। इस बात को सोचकर सभी का मन काँप उठा। जैसे ही यह खबर नानी को मिली उन्होंने रोना आरम्भ कर दिया। अपनी इकलौती सन्तान की अकाल मृत्यु के पश्चात ये बालक उनकी आँखों के तारे बन गए थे। इनमें वे अपनी सन्तान का रूप देखती थीं। कितना भी समझाओ पर उनका मन कहाँ मानने वाला था। आकर बालकों को अपनी आँखों से देखकर ही उनका मन शान्त हुआ।

(4)

पिता श्री मधुसूदन विलासी प्रकृति के थे। चौड़े पार की चुन्नट की हुई धोती पहनते थे। सुगन्धित तेल, यूडीकोलन, इत्र आदि लगाते थे। उन्हें अंग्रेजी लिखनी-पढ़नी भी आती थी। उस समय अंग्रेजों का जमाना था। उनके कुछ मित्र विदेशी विचारों के थे। उनके साथ रहकर शराब की लत भी लग गई थी। एक दिन पिता शराब पीने के बाद नशे में मत्त होकर घर में शोर मचा रहे थे। श्री प्रमथनाथ तब बहुत छोटे थे। उनकी नींद खुल गई। पिता को इस उन्मत्त अवस्था में देखकर बालक हक्का-बक्का रह गया और पिता की तरफ एकटक देखने लगा।

शिशु की इस दृष्टि ने पिता को अन्दर तक हिला कर रख दिया। इतना ही नहीं उनकी अन्तरात्मा का भी शोधन हो गया। बाद में पिता मधुसूदन कई बार बातचीत के दौरान कहते

थे कि – "भूति (प्यार का नाम) ने इस तरह मेरी तरफ देखा कि मैं तो शराब पीना ही भूल गया। मेरी यह लत ही छूट गई।"

इस घटना की पुनरावृत्ति उनकी बड़ी उम्र में भी हुई थी। तब वे प्रमथनाथ नहीं बल्कि स्वामी जी कहलाने लगे थे। उनके एक धनी मारवाड़ी भक्त थे – पोद्दार जी। वे भी शराब के आदी थे। स्वामी जी अपने इस भक्त के घर कुछ दिनों के लिए रुके हुए थे। पोद्दार जी की पत्नी प्रायः ही स्वामी जी से अपने पति की नशे की आदत के लिए दुःख प्रकट करती थीं। गर्मी का मौसम था। स्वामी जी बाहर आराम कुर्सी पर बैठे हुए थे। बाहर की तरफ बगीचा था। उस समय रात के लगभग 12 बजे होंगे जब पोद्दार जी घर लौटे। गाड़ी से उतरकर जैसे ही उन्होंने देखा स्वामी जी बैठे हुए हैं, वे उनके चरणों के निकट बैठ गए और बोले आज एक जगह निमंत्रण था इसीलिए ज्यादा खा लिया और पेट पर हाथ फेरने लगे। तब स्वामी जी ने पूछा खाना तो बहुत हो गया और पीना? इसके उत्तर में पोद्दार जी ने कहा वह तो आपकी कृपा से एकदम छूट गया। स्वामी जी यह सुनकर बहुत खुश हुए। इससे बड़ी अलौकिक घटना और क्या हो सकती है। अन्दर के इस परिवर्तन के लिए ही तो साधना की जाती है।

(5)

मात्र पाँच वर्ष की अल्पायु में ही वे ललाट पर शुभ्र ज्योति का दर्शन करते तथा अनाहत नाद सुनते थे। उस समय तरह-तरह के अलौकिक दर्शन पाकर बालक डर जाते थे। भयभीत बुआ अपने गांव चाण्डुली में ही रहने वाली 'हरी की माँ' नामक एक साधिका के पास बालक को ले जाती थीं। उन्होंने बालक को 'नृसिंह' मंत्र दिया और कहा जब भी तुम्हें डर लगे इस मंत्र का जाप करना। बुआ से कहा – "यह कोई साधारण बालक नहीं है। इसे किसी की भी जूठन मत देना।" कितनी साधनाओं के बाद जो सिद्धि प्राप्त होती है, कितनी चेष्टा से जिसकी रक्षा की जाती है उन सबको वे अपने साथ लेकर ही जन्मे थे। उनकी तुलना साधारण मनुष्य से किसी भी तरह नहीं की जा सकती है यह बात सभी की समझ में आ गई थी।

बुआ की गोद में ही रामायण, महाभारत, पुराण की कथा सुनते-सुनते उनकी प्राथमिक शिक्षा आरम्भ हुई। बचपन से ही बुआ ने बालक को नाना प्रकार के संस्कृत के श्लोक, मंत्र, सूर्य प्रणाम आदि सिखाया था। यद्यपि उनके उच्चारण में अनेक स्थलों पर अशुद्धि रहती थी, पर परवर्ती जीवन में जो बालक सुधी समाज के बीच महाज्ञानी और महापंडित के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, उनकी आरंभिक शिक्षा का श्रेय जिस निरक्षर नारी को है उसके संतान प्रतिपालन के महान कार्य को स्मरण कर मस्तिष्क श्रद्धा से नत हो जाता है। बालक को यदि कभी कोई बीमारी होती तो बुआ दौड़कर किसी ब्राह्मण के पास जाती और उनसे प्रार्थना करती – "बाबा मेरे भूति की तबीयत ठीक नहीं है आप उसके सिरहाने बैठकर गायत्री मंत्र का जाप कर दें!" अथवा किसी देवता का स्तवन करवातीं। देवी-देवता का चरणामृत लाकर बालक को पिलाती थीं। देवी-देवताओं और ब्राह्मणों के प्रति उनके मन में अटूट भक्ति थी।

(6)

थोड़े बड़े होने पर जब उन्होंने पिता से नियमित दैनिक शिक्षा प्राप्त करनी शुरू की तो कुछ ही दिनों में पिता को यह समझ में आ गया कि बालक प्रमथनाथ श्रुतिधर होकर ही जन्मे हैं। पिता जो भी उन्हें सिखाते वह उन्हें उनके पास बैठे-बैठे ही तुरन्त कण्ठस्थ हो जाता। दो-चार दिन बीतता और पिता को वह पुस्तक दिखाई नहीं पड़ती। बालक से पूछते, 'पुस्तक कहाँ है तो बालक हँसकर उत्तर देता – "वह पुस्तक तो मैंने पढ़ ली थी। कल रात में मेंढक बहुत टर्रा रहे थे, इसलिए उन्हें पढ़ने के लिए दे आया हूं।" पिता बालक पर रुष्ट होते परन्तु उनपर कोई असर नहीं होता। कुछ दिन बाद फिर वही होता, बालक नई पुस्तक मेंढकों को पढ़ने के लिए दे देता। पिता पढ़ाते समय कभी-कभी रुष्ट होकर बालक को डाँटते तो बालक 'माँ काली' 'माँ काली' कहकर रोने लगते। पिता आश्चर्यचकित होकर बालक की तरफ देखते रह जाते। मातृहीन बालक ने बचपन से ही जगन्माता को अपनी 'मां' बना लिया था। यद्यपि बालक का स्वभाव अत्यन्त चंचल था, पर जब वे मालदह में रहते तो उस समय के एक पुराने काली मन्दिर में जाकर चुपचाप, शान्त होकर अकेले ही बैठे रहते। ऐसा लगता है मानो बालक को मन्दिर में ही अपना निवास दिखाई देता था। वे मैदान में अन्य बालकों के साथ कबड्डी खेलते होते। शक्ति और सामर्थ्य में वे किसी से कम नहीं थे। सबके साथ खेल जोर से चल रहा होता कि अचानक बालक को अपने शरीर में एक प्रकार की सिहरन सी प्रतीत होती और वे खेल छोड़कर खड़े हो जाते। भीतर-भीतर एक मधुर हँसी फूटती। किशोरावस्था में ही सोचते "यह खेल तो मेरे लिए नहीं है।" सभी संगी-साथी उन्हें अत्यधिक स्नेह करते थे। कई बार कुछ साथी उन्हें स्नेह से लिपटाकर कहते – "तुम्हारे शरीर से कितनी भीनी-भीनी मधुर सुगन्ध निकलती है। ऐसा तो किसी और के शरीर से नहीं निकलती।"

(7)

किशोरावस्था में जब उन्हें व्याकरण की थोड़ी भी जानकारी नहीं थी, उस समय वे अपने आप संस्कृत के श्लोकों की रचना करते और कापी भर डालते। आचार्य शंकर के कठिन ग्रन्थों का पाठ करते-करते वे तन्मय हो जाते। ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्हें यह पहले से ही पता है।

विद्यालय में जब वे सातवीं कक्षा के छात्र थे, उनके अंग्रेजी के शिक्षक पढ़ाई समाप्त करने के बाद कभी शेक्सपीयर, कभी कालीदास, कभी बंकिम ग्रन्थावली आदि लाकर बहुत ही रोचक ढंग से पाठ करके सुनाते थे। इसीलिए किशोरावस्था से ही साहित्य के प्रति उनके मन में अनुराग पैदा हो गया। परिणामस्वरूप बी.ए. कक्षा में पहुँचने से पहले ही उन्होंने शेक्सपीयर के सभी ग्रन्थों को पढ़ डाला। केवल पढ़ा ही नहीं उसे कंठस्थ भी कर लिया था। क्योंकि हमने देखा है कि अपनी वृद्धावस्था में वे कई स्थलों का कंठस्थ किया हुआ पाठ सुना देते थे। विद्यालय में उस समय अत्यन्त मेधावी छात्रों को दोहरी प्रोन्नति देने की व्यवस्था थी।

इन्हें भी जब दोहरी प्रोन्नति प्रदान करने की बात हुई तो उनके पिता ने अस्वीकार कर दिया और कहा कि इससे नींव कमजोर रह जाएगी। उन दिनों इंट्रेंस परीक्षा के लिए जो आयु निर्धारित की गई थी उससे एक वर्ष पहले ही उन्होंने अपनी पढ़ाई पूरी कर ली। निर्धारित आयु पूरी न होने की वजह से कुछ दिन प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। उस समय उन्होंने उर्दू भाषा सीखी। भविष्य के उनेक लेखों में उर्दू का प्रभाव भी दिखाई देता है। परीक्षा में उन्हें सदैव उच्च स्थान प्राप्त होता था। बी.ए. की परीक्षा में उन्हें स्वर्ण-पदक प्राप्त हुआ था। एम. ए. पढ़ते समय कुछ कठिन प्रश्नों की जानकारी के लिए सहपाठीगण उनके पास जाते थे और वे अत्यन्त उत्साह के साथ उन्हें उत्तर समझा देते थे। परन्तु परीक्षा के समय उनके समक्ष एक कठिन परिस्थिति उत्पन्न हुई। इतनी अधिक जानकारी उन्होंने प्राप्त कर ली थी कि प्रथम दो प्रश्नों का विस्तृत उत्तर लिखते-लिखते समय समाप्त हो गया और बाकी प्रश्न अनुत्तरित रह गए। दूसरे दिन बहुत संक्षेप में प्रश्नों के उत्तर लिखने का प्रयास किया परन्तु कुछ लाभ नहीं हुआ। इसी प्रकार तीसरे एवं चौथे दिन भी संयत होकर प्रश्नों का उत्तर लिखने का प्रयास किया। सभी सहपाठी सोच रहे थे कि उन्हें निश्चय ही प्रथम स्थान प्राप्त होगा परन्तु जब परीक्षा का परिणाम प्रकाशित हुआ तो सभी यह देखकर दंग रह गए कि उन्हें द्वितीय श्रेणी प्राप्त हुई थी।

विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी करने के पश्चात अपनी अदम्य ज्ञान पिपासा शान्त करने के लिए उन्होंने विभिन्न विषयों का अध्ययन करना आरम्भ किया। विशेष रूप से पदार्थविज्ञान एवं अंकगणित के दुर्बोध ग्रन्थों को वे पुस्तकालय से ले आते थे। कई बार विज्ञान के कुछ छात्र उनसे प्रश्न करते – "आप ये सारी पुस्तकें लेकर क्या करते हैं? यह तो आपका विषय नहीं है" (क्योंकि ये कला विभाग के छात्र थे)। वे हंसकर उत्तर देते "यों ही जरा देख लेता हूँ।" लेकिन उन्होंने उन पुस्तकों को केवल पढ़ा ही नहीं, अपितु उक्त ग्रन्थों को अच्छी तरह से समझा भी। परवर्तीकाल में लिखे गए उनके ग्रन्थों का अध्ययन करने पर उनके अगाध ज्ञान भण्डार का परिचय मिलता है।

ब्रह्मज्ञान को लेकर ही मानो उनका जन्म हुआ था। परन्तु विज्ञान के संबंध में जानकारी प्राप्त करने में उन्हें बहुत अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ा था। विज्ञान पढ़कर बहुत बड़ा पंडित बनना उनके जीवन का लक्ष्य भी नहीं था। वे तो विज्ञान के प्रकाश में अन्य विषयों की जानकारी प्राप्त करना चाहते थे। परवर्ती जीवन में उनके ग्रन्थों में विज्ञान के आधार पर तर्क एवं युक्ति के द्वारा सभी विषयों को समझाया गया है। उन्होंने यह स्पष्ट कहा है – "देखो वैज्ञानिक तुम्हारे रास्ते की सीमा यहां समाप्त होती है। इसके बाद तुम प्रज्ञान के पथ पर आओ।" अर्थात विज्ञान की पहुँच एक सीमा तक ही होती है। उसके पश्चात तो ब्रह्मज्ञान के पथ का पथिक बनना होता है। "प्रज्ञान के बिना जो विज्ञान है वह तो केवल मृत्यु को ओर अग्रसर हो रहा है। समाधान कहां मिल रहा है, कल्याण कहां हो रहा है?" तात्पर्य यह कि ब्रह्मज्ञान के बिना विज्ञान अधूरा है। उससे न तो जीवन की समस्याओं का समाधान होता है और न ही मानव कल्याण हो पाता है।

इस विषय की सत्यता की परख करने के लिए उनके द्वारा लिखित 'जपसूत्रम की आत्मकथा' (पाँचवे खण्ड की भूमिका) के कुछ अंश को पढ़कर देखा जाए – "साठ वर्ष पहले – एक जिज्ञासु युवक। आयु एवं स्वभाव दोनों दृष्टियों से विद्यारसिक। उस समय चिन्तनभूमि के आकाश में एक उज्ज्वल अतुलनीय नक्षत्र थे – 'हार्बर्ट स्पेन्सर'। विद्या के क्षेत्र में उनका अवदान विराट था। प्रकाण्ड़ दस खंडों में 'सिंथेटिक फिलॉसफी' (Sythetic Philosophy)। इसमें केवल पांडित्य या विशालता ही नहीं, अपितु उनके निपुण जोरदार विश्लेषण और व्यापक वैज्ञानिक समन्वय ने बहुतों को विस्मय विमुग्ध कर दिया था। हालाँकि उनका मूलतत्व आँखों से आँखें नहीं मिला सकता था। उस मूल विषय पर इस देश के आचार्यों द्वारा दिए गए दिव्य ज्ञान तथा उस देश के अन्य मतावलंबी आचार्यों द्वारा दी गई ज्ञानप्रभा ने आध्यात्मिक दृष्टि को काफी हद तक प्रकृतस्थ बनाए रखा था। तथापि आचार्य हार्बर्ट स्पेन्सर से एक अद्भुत समन्वयकारी परिकल्पना एवं जीवन में उसके प्रयोग की प्रेरणा मिली। दीक्षा नहीं, प्रेरणा, क्योंकि इसी प्रकार की परिकल्पनाओं के बीज संभवतः अंकुरित रूप में उनके संस्कारों की भूमि में विद्यमान थे। उस देश की विज्ञानविद्या और इस देश की अध्यात्मविद्या इन दोनों के बीच निकट संबंध एवं संगति स्थापित करना इस युवा जिज्ञासु के जीवन का लक्ष्य और साधना बन गई। प्रयोगशाला और नैमिषारण्य के बीच पुनर्मेल।' युवावस्था में ही जो आधार निर्मित हो गया था उसे विज्ञान के प्रकाश में परीक्षित करने के बाद जो मत प्रतिष्ठित हुआ उसका प्रथम फल 1914 साल में Approaches to Truth के रूप में सामने आया। उस समय Sir John Woodroffe साहब द्वारा तंत्र के संबंध में किए गए अनेक प्रश्नों का उत्तर स्वामी जी पत्रों द्वारा या सामने बैठकर दिया करते थे एवं तंत्र का जो मूल दर्शन या सिद्धांत है उसका ज्ञान उन्हें दिया। Woodroffe साहब को स्वामी जी ने मित्र बना लिया परन्तु Woodroffe साहब स्वामी को 'My dear Professor' कहकर ही सम्बोधित करते थे। स्वामी जी की उसी समय प्रकाशित 'Patent Wonder' पुस्तक पढ़कर Woodroffe साहब ने जहाज से ही उन्हें पत्र लिखा कि – "यह पुस्तक पढ़कर समझ में आया है कि माया क्या है।"

(8)

हर्बट स्पेन्सर के मतवाद पर मुग्ध किशोर विद्यारसिक के अन्तर्मन को एक प्रकार का प्रेम रस आप्लावित कर रहा था, यह बात ऋषिप्रतिम 'प्राणगोपाल बाबू' के अनुज ललित गोपाल (स्वामी जी के सहपाठी) की दृष्टि से छिपी नहीं थी। इसीलिए उन्होंने किशोर वय में ही उनका नाम 'प्रेम दा' रख दिया था। किशोरावस्था में वे बार-बार दक्षिणेश्वर चले जाते थे। पंचवटी में कुछ देर बैठे रहते। लजीले स्वभाव के कारण हर समय मठ के किसी व्यक्ति से नहीं मिलते थे। कभी-कभी किसी से मिलकर उन्हें प्रणाम करके वापस आ जाते। उस समय रामकृष्ण परमहंस के साक्षात शिष्यगण जीवित थे। उनके मधुर व्यवहार से उनका मन आह्लादित हो उठता। उन्हें अपने पास बैठाकर प्रसाद खिलाए बिना वे नहीं छोड़ते थे।

जब छुट्टी होती और वे कलकत्ता के मेस से घर जाते तो पिता पुत्रों को साथ लेकर खाना खाने बैठते। एक बार जब रसोइया मछली देने लगा तो पुत्र प्रमथनाथ ने हाथ हिलाकर मछली देने से मना किया। पिता ने इस पर नाराज होकर कहा – "तुम यह बहुत गलत काम कर रहे हो। तुम क्या इतनी कम उम्र से ही मछली नहीं खाओगे?" आदेश के स्वर में रसोइये को कहा – "मैं कहता हूं मछली दो।' उस समय उनकी आयु 19-20 वर्ष होगी। उन्होंने अपना हाथ खींच लिया और धीरे-धीरे जरा सा भात दूध के साथ खाकर उठ गए।

इसके कुछ दिनों के बाद की बात है। दक्षिणेश्वर जाते समय पानापोखर में स्नान करने से उन्हें मलेरिया ज्वर हो गया। शरीर अत्यधिक दुर्बल हो गया। उस समय घर पर ही थे। गांव के डाक्टर द्वारा दवा दिए जाने के बाद ज्वर उतर गया। डाक्टर ने उनसे कहा "बेटा, मेरी एक बात तुम्हें माननी होगी। कल दोपहर में तुम्हें जिन्दा मछली के झोल के साथ भात जरूर खाना होगा।" डाक्टर की स्नेहपूर्ण बात को वे नहीं टाल सके और राजी हो गए। शाम को डाक्टर फिर आए। रोगी की जाँच की और बोले –"बेटे तुम्हारी आँखें इतनी लाल क्यों हैं? रहने दो बेटा, अब कल तुम्हें मछली खाने की जरूरत नहीं है, तुम निरामिश झोल-भात खाओ।" कलकत्ता मेस में लौटकर भी उन्हें बार-बार मलेरिया ज्वर होने लगा। मलेरिया का मिक्सचर खाते तो ज्वर उतर जाता परन्तु फिर ज्वर हो जाता। बार-बार ऐसा होता देखकर उन्होंने तीनों पहर 108 बार गायत्री मंत्र का जाप करना आरम्भ किया। मलेरिया हमेशा के लिए उन्हें छोड़कर चला गया और उसके बाद कभी मलेरिया नहीं हुआ।

एक बार वे छुट्टी के समय घर पर ही थे। पिता उस समय खूनी पेचिश से बहुत ही तकलीफ पा रहे थे। बड़े भाई मन्मथनाथ पिता की हर चीज की देखभाल कर रहे थे। वे छोटे थे घर की ओर झांकते भी नहीं थे। लोग उलाहना देते, "छोटा लड़का इस तरफ बिलकुल नहीं आता। पिता की खोज-खबर तक नहीं लेता।" लेकिन प्रमथनाथ माँ की मूर्ति के सामने खड़े होकर रोते और कहते – "माँ तुम पिताजी को ठीक कर दो, उन्हें बहुत कष्ट हो रहा है। तुम उन्हें रोग मुक्त करो।" परंतु रोग फिर भी ठीक नहीं हुआ। तब उन्होंने मा से रोकर कहा – "माँ यदि पिता जी के प्रारब्ध में कोई कष्ट भोगना लिखा ही है तो वह कष्ट तुम मुझे दे दो और पिता जी को स्वस्थ कर दो।" इसके बाद पिता जी धीरे-धीरे ठीक होने लगे। सुधार देखकर वे कलकत्ता लौट गए। वहाँ जाते ही वे खूनी पेचिश से ग्रस्त हो गए। वे समझ गए कि यह रोग तो उन्होंने माँ से मांगकर लिया है। वे चुपचाप कष्ट भोगते रहे। दवा भी ज्यादा नहीं लेते थे। एक माह से भी अधिक समय तक पिता के प्रारब्ध का भोग अपने ऊपर लेकर उसे खत्म किया। किसी को कानों-कान खबर तक नहीं लगी। एक बार भी अस्वस्थ पिता के कमरे में वे नहीं गए, पर उन्होंने पिता के लिए चुपचाप कितना कष्ट भोगा और पिता को रोगमुक्त करने के लिए सारा कष्ट अपने शरीर पर झेला!

(9)

मन के जिस प्रबल आकर्षण से वे बार-बार दक्षिणेश्वर जाते थे उसी तीव्र आकर्षण से वे देवघर में बालानन्द जी के आश्रम में भी जाते थे। उनके द्वारा लिखित 'तपोवन की वाणी' नामक पुस्तक की भूमिका में वे कहते हैं – "उस समय मेरी तरुणावस्था थी। उम्र 20-21 वर्ष की होगी। कॉलेज में बी. ए. में पढ़ रहा था और अमहर्स्ट स्ट्रीट के एक मेस में रहता था। श्रीमान गोविन्द गोपाल के मझले काका ऋषितुल्य प्राणगोपाल दादा के छोटे भाई ललित गोपाल मेरे सहपाठी थे। वे भी वहीं रहते थे। मुझे पता चला कि ललित को देवघर में श्री श्री बालानन्द जी की कृपा प्राप्त हुई है और वह उनकी असीम स्नेहपात्र मानस संतान भी है। ललित कभी-कभी अपने कक्ष में बैठकर योगवशिष्ठ रामायण का पाठ करता था और मैं सुनता था। राम प्रश्न कर रहे हैं और वशिष्ठ उत्तर दे रहे हैं। राम द्वारा किए गए किसी प्रश्न को पढ़ने के बाद ललित मेरी ओर देखकर पूछता –"अच्छा, प्रेमदा बताइए तो वशिष्ठ इसका क्या उत्तर देंगे?" मेरे द्वारा दिए गए उत्तर को सुनकर ललित चौंक जाता और कहता – "प्रेमदा! आप यहाँ क्यों हैं? यह स्थान आपके लिए नहीं है!" सचमुच ललित मेरे मन का भाव कैसे पकड़ लेता था यह तो वही जाने पर उसी उम्र में मेरे अपने मन में जरा भी संशय नहीं था कि मैं सही जगह पर नहीं हूं और मेरे लिए तो कोई दूसरा ही स्थान है।

एक बार गुरु पूर्णिमा से पहले की बात है। ललित ने कहा – "प्रेमदा इस बार देवघर में श्री श्री महाराज के करनीबाद आश्रम में चलिए। सुनते ही मुझे लगा कि यह मेरी अपनी जगह का आह्वान है। मुझे वहां जाना ही होगा। वहाँ पहुँचते ही मुझे लगा कि इस स्थान पर तो मेरे किशोर जीवन का जागृत ज्योतिर्घन स्वप्न, युवा जीवन का रसपूर्ण ध्यान और भविष्य के ज्ञान-भक्ति-योग का समन्वय एवं समाधान सब कुछ एक साथ मूर्त रूप में विराजमान है।"

त्याग और वैराग्य प्रारम्भ से ही उनके जीवन का स्वाभाविक अंग बन गया था। युवा अवस्था में पहुँचने के बाद उन्हें इस सत्य को परखने का अवसर भी मिला। पिता श्री मधुसूदन द्वारा जब बड़े लड़के मन्मथनाथ के लिए एक विवाह प्रस्ताव लाया गया तो उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। इससे दुखी होकर पिता ने अफीम खाकर आत्महत्या की कोशिश की। क्योंकि अपने दोनों पुत्रों के मन में घर-गृहस्थी के प्रति वैराग्य की बात उनसे छिपी नहीं थी। पिता द्वारा मृत्यु की धमकी से डर कर बड़े पुत्र ने विवाह कर लिया। प्रमथनाथ ने भी इसी डर से विवाह के लिए स्वीकृति दे दी। विवाह हो भी गया। रूप, लावण्य और सौन्दर्य से परिपूर्ण युवती पद्मावती को उन्होंने मातृरूप में स्वीकार किया। उन्हें माँ कहकर पुकारते और स्वयं को उनके समक्ष बालगोपाल के रूप में प्रस्तुत करते। श्री रामकृष्ण परमहंस के कथामृत के पाँचों खण्ड उन्हें जीवन के पाथेय और संगी के रूप में प्रदान किए। उन्हें व्रतचारिणी की तरह जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी। उन्होंने पत्नी को लाल पाड़ की सफेद साड़ी और हाथों में

केवल शाँखा पहनने के लिए कहा। सहधर्मिणी के प्रति अन्तर में कोमल भाव रहते थे परन्तु ऊपर से गाम्भीर्य एवं कठोरता का आवरण बनाए रखते थे। एक बार कमरे में जाने पर देखा कि उनके द्वारा लगाए जाने वाले सुगन्धित लक्ष्मीविलास केश तेल की शीशी का ढकना खुला हुआ था। पूछा – "किसने लगाया यह तेल?" पत्नी पद्मावती ने कहा कि मेरे सिर में दर्द था तथा चक्कर भी आ रहा था इसलिए मैंने लगाया है। वे तुरन्त तेल की शीशी फेंककर बोले - "इतनी विलासिता।"

बड़े भाई ने घर की दोनों बहुओं (अपनी पत्नी तथा भाई की पत्नी) के लिए सोने की चूड़ियाँ बनवाकर दीं। छोटी बहू पद्मावती सोने की चूड़ियाँ पहनकर प्रसन्नचित्त पति को दिखाने गई। उसे देखकर उन्होंने रुष्ट होकर कहा – "तुम्हें सोने की चूड़ियाँ पहनने का इतना शौक है? मनुष्य की इच्छाओं का क्या कोई अन्त नहीं होता?" पति उन्हें जिस आसन पर बैठाना चाहते थे उसपर बैठने की न तो उनकी आयु थी और न ही मन की अवस्था। सौतेली सास और जेठानी दोनों ही के छुआछूत के स्वभाव की वजह से वे त्रस्त रहती थीं। गृहस्थी के कार्यों का सारा भार उन्हें ही वहन करना होता था। पति भी अधिकतर कलकत्ता में ही रहते थे। पद्मावती की इच्छा होती थी कि वे पति के साथ कलकत्ता जाकर रहें, परन्तु पति को यह स्वीकार नहीं था। पति के आदर्शों से प्रेरित होकर उन्होंने अपने द्वारा व्यवहार में लाए जाने वाले गद्दे, रजाई आदि गरीबों को दान कर दिए। इस पर ससुर ने बहू को काफी बुरा-भला कहा एवं उनका तिरस्कार किया। अन्त में नियति के विधानानुसार उन्होंने स्वेच्छा मृत्यु प्राप्त की। देहान्त हो जाने पर उनकी मृत देह जब बाहर लाई गई तो पति प्रमथनाथ ने मृत पत्नी के चरणों में मस्तक रखकर एक बार 'माँ' कहकर संबोधित किया और आँखों में अश्रुजल भरकर कहा – "माँ तुम्हारी कोई सेवा नहीं कर सका, इसके लिए क्या तुम अपनी इस कुपात्र सन्तान को क्षमा नहीं करोगी?" इसके पश्चात दृढ़ स्वर में उन्हें विदाई देते हुए कहा – "जाओ।"

जो व्यक्ति रास्ते में लोगों द्वारा किसी चोर की पिटाई करते देखकर उसे अपने कलेजे से लगाकर कहता कि "इसे इस प्रकार मत मारो" वह व्यक्ति क्या कभी निष्ठुर हो सकता है। किंतु जिस प्रकार माँ अपनी सन्तान की पिटाई करती है और उसके कष्ट को देखकर स्वंयं भी कष्ट पाती है – पीड़ा भी देती है और साथ में पीड़ा भी पाती है – उसी प्रकार जिस अग्निमंत्र से दीक्षा देकर भीतर बाहर-सब शुद्ध हो जाता है, उस मंत्र की साधना जन्म-जन्मान्तर तक करनी होती है। एक देह द्वारा तो यह साधना सम्भव नहीं भी हो सकती है।

(10)

बचपन से ही वे ज्योति दर्शन एवं नाद श्रवण करते थे। उन्हें इस उच्च स्थान तक पहुँचने के लिए कठिन साधना करनी पड़ी थी। युवावस्था में पटलडांगा के मेस की छत के ऊपर वाले कमरे में अकेले बैठे रहते और रोकर व्याकुल होकर अपने आप बोलते– "माँ आज भी तुमने

दर्शन नहीं दिए। आज का दिन भी व्यर्थ चला गया।" मातृहीन शिशु की तरह कभी अपने बाल नोचते, कभी माथा पीटते और कभी छत से कूदने का प्रयास करते। एक लड़का हर समय उनके पीछे-पीछे रहकर उनका ध्यान रखता था और बीच-बीच में उनको यह कहकर बहलाता रहता था – "वही तो माँ आ रही हैं।" आँखों के आँसू से हृदय प्रवाहित हो उठता। सावन की अविरल धारा की तरह छह वर्ष तक वे इसी प्रकार व्याकुल होकर रोते रहे। फिर भी आँखों के आँसू कभी नहीं रुकते। कैसी असहनीय व्याकुलता। हृदय के रक्त से रंजित विल्वपत्र की अंजलि माँ के चरणों में समर्पित करते। इस प्रकार दिन पर दिन व्यतीत होता रहा। उनके भावों का यह प्रभाव पूरे मेस को भावाकुल कर देता था।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि वे रास्ते में जा रहे हैं – रास्ते में विष्ठा पड़ा होता और उसपर कीड़े, मकौड़े, मक्खियां भिनभिना रही होतीं। यह देखकर वे बीच रास्ते में खड़े हो जाते। आँखों से आँसू बहने लगते पर मुख पर मधुर हँसी रहती। उनके मन में आता कि माँ मानो अपनी हजारों सन्तानों को अपनी स्तन-सुधा का पान करा रही हैं। विष्ठा पर बैठे कीड़े-मकौड़े अपने सरस खाद्य का आनन्द प्राप्त करके उल्लसित हो रहे हैं। वस्तुतः इसके पीछे भी तो ईश्वर कृपा छिपी है। कीड़े-मकोड़ों को मल से ही मधुर रस प्राप्त हो रहा है। वे अपनी अंगुली से विष्ठा उठाकर माथे से लगाते फिर सिर पर लगाते। इस प्रकार की व्याकुलता एवं भक्ति के द्वारा उन्हें जगन्माता के दर्शन होते थे। बाहर से मन शान्त हो जाता था परन्तु अन्तर की व्याकुलता कम नहीं होती थी। परिपूर्णता का अभाव मन को विपन्न किए रखता था। 'ज्ञातुं द्रष्टुं' होता। किंतु अभी भी प्रविष्टुम् तो नहीं हुआ न! भाव के मणियों को लेकर गहन अंतस्तल में डुबकी लगाई। अंतरात्मा में अन्वेषण चलने लगा। उसके बाद योग के माध्यम से कृच्छ्रसाधना की। एक के बाद एक पद्धति अपनाते हुए 32 हाथ का कपड़ा गले के माध्यम से पेट में डालकर और फिर उसे बाहर निकालकर भीतर की नाड़ियों का परिष्कार करने जैसी क्रियाओं के द्वारा प्रत्यगात्मा को अपने और सभी जीवों के भीतर देखा। लेकिन वे आत्मस्थ थे। जपसूत्रम् में त्रिविध भंगुता की व्याख्या देखिए, "स्वयं नारद को भगवान दिखाई देकर भी यह कहकर गायब हो जाते हैं – 'अविपक्व कषायानां सुदुर्दशोहं कुयोगिनाम्।' हे भगवान! तो क्या नारद भी 'कुयोगी' थे और वे भी 'अविपक्व कषाय' थे। लेकिन यह कषाय 'अनु' है। और देखिए – श्री भगवान ने अपने साक्षात शिष्य एवं सुहृत उद्धव को साधना के लिए बदरी आश्रम में भेजते हैं। और अंत में देखिए कि जन्म से ही विद्वान, संपूर्ण संसार के प्रति समदर्शी श्री शुकदेव ब्रह्माज्ञ जनक को 'तीर्थ' हैं कि नहीं, गुरु के रूप में वरण कर रहे हैं। उनमें भी भंगुरता! मिथिला में एक दिन आग लगाकर उनके उस अणुभंगुरता को 'ऊरू' करके दिखाया!" इन सभी दृष्टांतों के माध्यम से स्वामी जी ने साधकों को कहा है "साधु सावधान! जपसूत्रम् तो उनका ज्ञानलब्ध फल नहीं है, साधनालब्ध फल है, उनके जीवन का परीक्षित सत्य है।"

(11)

उनके साधनारत जीवन के बाद अब फिर से उनके कर्मजीवन की बात करें। छात्रजीवन के पश्चात श्री अरविन्द के नेतृत्व में जातीय शिक्षा परिषद में योगदान देकर उन्होंने अपने कर्म जीवन का शुभारम्भ किया। उनकी भास्वर प्रतिभा और ज्ञान पर मुग्ध होकर कुछ दिनों बाद श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी उन्हें रिपन कालेज ले आए। उक्त कालेज में कुछ समय तक अध्यापन का कार्य करने के पश्चात उन्होंने वहाँ से त्यागपत्र दे दिया और श्याम सुन्दर चक्रवर्ती (तत्कालीन बंगाल काँग्रेस के कर्णधार) के आमंत्रण पर Servant नामक समाचारपत्र के संपादक के रूप में कार्यभार ग्रहण करके प्रत्यक्ष रूप से स्वाधीनता आन्दोलन में योगदान दिया। यह समाचारपत्र उन दिनों राष्ट्रीयतावाद एवं मुक्तिसंग्राम का प्रमुख अंग्रेजी दैनिक अखबार था। उस समय कुछ दिनों के लिए उन्हें कारावास भी मिला। कारावास के समय वे देशबन्धु चित्तरंजन दास, देशप्राण वीरेन्द्रनाथ, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस जैसे महान नेताओं के संपर्क में आए। ये सभी व्यक्ति श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय को Servant पत्रिका केसंपादक के रूप में बहुत आदर करते थे। पर स्वाधीनता आन्दोलन में प्रत्यक्ष रूप से योगदान देने पर भी वे हिंसा के रास्ते का विरोध करते थे। वे तर्क और विचारों से युक्त लेखनी की तेज धार से मिथ्या, अनाचार और अन्याय की जड़ों पर कुठाराधात करने के पक्षपाती थे।

उस समय के अधिकतर स्वाधीनता संग्रामी ऋषियों के ऋत पथ पर अर्थात सच्चाई के रास्ते में विश्वास रखते थे। उनकी साधना का आधार होता था – संयम, त्याग एवं जीवन्त कर्मक्षेत्र। स्वाधीनता अन्दोलन में भाग लेने पर भी स्वामी जी अपने भावों के केंद्रबिंदु से तनिक भी नहीं हटे थे अपितु इससे उन्हें अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता ही मिली थी। बिन्दु में सिन्धु वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। उनके द्वारा लिखे गए लेख से यह बात स्पष्ट होती है। उनका कहना है – "अपने गड्ढों को मैं एक छोटा-सा बेतारस्टेशन मानता हूं। मेरे बाहर जो कुछ है उन सभी का बेतार प्रवाह भीतर आ रहा है। मेरी सत्ता का प्रत्येक कण उन सारे प्रवाहों के छन्दों की जांच करके उन्हें छांट लेता है। और यह कोई छोटा-मोटा गड्ढा नहीं, एक महासागर है। उपनिषदों के रचयिता ऋषियों और भक्तों ने इस सागर की खोज का पथ पहले ही बता दिया है। किंतु अपने गड्ढे की प्रशंसा करने से क्या लाभ!" (शिक्षा की बात)।

स्वामी जी छन्द के पुजारी थे। जीवन में छन्द के अनुशासन का सदैव हर क्षेत्र में पालन करते थे। एक बार उनके पिता बहुत बीमार पड़े। स्वामी जी के ऊपर रुपये-पैसे एवं हिसाब आदि का भार दिया गया। उस समय घर की देखभाल का दायित्व उनकी बड़ी बहन पर था। उन्होंने स्पष्ट रूप से उनसे कह दिया कि – "दिन भर में निर्दिष्ट एक घंटा समय वे दूसरों से हिसाब लेने में और जिसको जो देना है, उसे देने के लिए रखेंगे। उस एक घंटे में वे दूसरा कोई भी काम नहीं करेंगे।" उस समय मकान की मरम्मत का कार्य चल रहा था। प्रधान मिस्त्री को भी यह बात स्पष्ट रूप से समझा दी गई थी कि निर्धारित समय के पश्चात किसी को कितनी

भी आवश्यकता क्यों न हो नकदी पेटी (कैश बाक्स) नहीं खुलेगी। एक दिन एक संकट उत्पन्न हुआ। पैसों की बहुत ही जरूरत आ पड़ी। पर अत्यन्त अनुरोध करने के पश्चात भी उस दिन उन्होंने नकदी पेटी नहीं खोली और पैसे नहीं दिए। इसके पहले किसी ने भी नहीं सोचा था कि स्वामी जी इतने सख्त हो सकते हैं।

इलाहाबाद रहते समय स्वामी जी प्रतिदिन चार मील चलकर गंगा स्नान करने जाते थे। कितनी भी बाधा क्यों न आए स्वामी जी का यह नियम नहीं टूटता था। 'चलारपथ' एवं 'फिरार पथ' ये दो उपन्यास भी स्वामी जी ने इसी दौरान लिखे थे। उनके पास एक घड़ी रहती थी और जो व्यक्ति खाना लेकर आता उसके पास भी घड़ी रहती थी। दोनों घड़ी का समय मिलाकर रखा जाता था। वह व्यक्ति निर्धारित समय पर खाना रखकर चला जाता। कोई किसी से एक भी शब्द नहीं बोलता था। 'चलार पथ' उपन्यास की रचना चाण्डुली के घर के तीसरे तल के कमरे में बैठ कर की गई थी और 'फिरार पथ' की रचना कटनी में एक छोटी सी पहाड़ी पर बैठकर। प्रातः होते ही वे कागज-कलम लेकर घर से निकल जाते थे। बीच में एक व्यक्ति जाकर खाना दे आता था। लेखन कार्य समाप्त करने के पश्चात निर्दिष्ट समय पर वे घर लौट आते थे।

कर्मजीवन में कितनी भी व्यस्तता क्यों न हो, स्वामी जी अपने हाथ से भोजन बनाना और व्यक्तिगत जीवन के विभिन्न कार्य स्वयं ही करना पसन्द करते थे। स्वामी जी ने जातीय शिक्षा परिषद का कार्य अवैतनिक रूप में करना स्वीकार किया था और अपना पेट भरने के लिए विद्यार्थियों को पढ़ाने का कार्य करते थे। 10-20 रुपये अर्जन कर लेते थे। उसी से दैनन्दिन जीवन की आवश्यकताएं पूरी करते थे। खाना बनाना भी क्या था - अपने कंधे पर लकड़ी ढोकर लाते, उन्हें जलाकर दिन में खिचड़ी और रात को हाथ की बनी दो मोटी-मोटी रोटियां सेंक लीं और उसके साथ दाल या कोई एक तरकारी बना ली। दिन पर दिन स्वामी जी का यही भोजन चलता रहा। प्रत्येक दिन प्रातः एक घंटा और शाम को एक घंटा अपने दैनिक कार्यों के लिए रखते थे। कपड़े धोना, बर्तन माँजना, खाना बनाना सभी कार्य अपने हाथों से करते थे। कर्म जीवन में वे हर कार्य को सही तरीके से करते हुए भी पढ़ाई-लिखाई, साधन-भजन समयानुसार करते थे। प्रत्येक कार्य के लिए समय निर्धारित था, इसलिए सारे कार्य बिना किसी रुकावट के होते रहते थे।

एक बार स्वामी जी की इच्छा विदेश जाने की हुई। परन्तु उस समय विदेश जहाज द्वारा जाना होता था और जहाज पर खान-पान की शुद्धता नहीं रह सकती थी। इसलिए उन्होंने अपने खान-पान के संबंध में अपने ऊपर एक परीक्षण किया। वे एक महीने तक केवल फलाहार लेकर रहे और एक महीने केवल सत्तू खाकर। फिर नमक और चीनी दोनों को चार महीने के लिए त्याग दिया। इन सबका उद्देश्य अनेक तरह का संयम करके अपनी रसना पर विजय प्राप्त करनी थी। सफेद खद्दर के वस्त्र पहनते थे। आवश्यकता से अधिक एक पाई भी अपने

पास नहीं रखते थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के श्री गोपाल बसु मल्लिक से उन्हें 5000/- रुपये वेदान्त के ऊपर फेलोशिप व्याख्यान (Fellowship Lecture) देने के लिए प्राप्त हुए थे। इतनी बड़ी राशि घर में रहने से उन्हें हर समय लगता जैसे घर में विषधर सांप बैठा हुआ हो। पाँच दिन के भीतर ही दीन-दुःखियों के बीच सारे रुपये बाँट कर उन्हें शान्ति प्राप्त हुई। बहुत लोगों ने उनसे कहा ये रुपये ब्याज पर लगा दो। स्वामी जी राजी नहीं हुए, बोले ब्याज पर रुपये लगाने से अदायगी की चिन्ता मन में रहेगी। दान करने के बाद तो कोई चिन्ता नहीं रहेगी।

घर में दुर्गापूजा के अवसर पर गरीबों को भोजन कराना था – काफी रुपयों की आवश्यकता थी। पुत्र प्रमथनाथ ने पिता से कहा – "विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के लिए जो स्वर्णपदक प्राप्त हुआ है वह बेकार ही पड़ा है, उसे बेच दें।" पिता पुत्रों की अनासक्ति की बात समझकर कठोर स्वर में कहते "मैं जब तक जीवित रहूंगा वह पदक मेरे पास रहेगा।"

(12)

भोगैषणाओं का त्याग स्वामी जी के स्वभाव में ही था। उनमें सांसारिक भोग विलास के प्रति आसक्ति कभी भी नहीं थी, फिर भी विभिन्न प्रकार की तपश्चर्या द्वारा मन को शुद्ध करके, शास्त्र के मतानुसार पचास वर्ष की आयु के बाद ही उन्होंने गेरुआ वस्त्र धारण किया। इससे पहले श्री श्री बालानन्दजी महाराज ने उन्हें एक गेरुआ चादर प्रदान करते हुए कहा "तुम अपना वह कुर्ता हमें दे दो।" (उनको अपना सफेद खद्दर का कुर्ता त्याग देने के लिए कहा)। स्वामी जी उनका इंगित समझ गए, हालांकि इंगित बहुत स्पष्ट नहीं था। उनके पास एक कमण्डल रहता था जिसके बारे में स्वामी जी प्रायः कहते थे कि यह श्री श्री बालानन्द ब्रह्मचारी महाराज का है।

इसके कुछ दिनों बाद की घटना है। उस समय स्वामी जी देवघर में रहते थे। अचानक एक रात को जाग्रत अवस्था में उन्हें सुनाई दिया कोई उन्हें 'नमो नारायण' 'नमो नारायण' कहकर सम्बोधित कर रहा है। किसी भी संन्यासी को ऐसे ही सम्बोधित किया जाता है। स्वामी जी चौंक उठे परन्तु आवाज इतनी स्पष्ट थी कि कोई संशय नहीं था। उन्होंने चारों तरफ देखा, लालटेन लेकर चौकी के नीचे देखा परन्तु कहीं कोई दिखाई नहीं दिया। उन्हें यह समझने में जरा भी विलम्ब नहीं हुआ कि अब उनके संन्यास ग्रहण करने का समय आ गया है। संन्यास ग्रहण के समय भी एक अद्भुत घटना घटी। स्वामी जी चाहते थे कि वे रामकृष्ण मिशन में ही शामिल हों। उन दिनों परमहंस देव के साक्षात शिष्य और रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी विज्ञानानन्दजी थे। वे उस समय इलाहाबाद में वास कर रहे थे। स्वामी जी ने विज्ञानानन्द जी को पत्र लिखा और यह इच्छा प्रकट की कि संन्यास ग्रहण करने का अनुष्ठान इलाहाबाद के संगम स्थल पर होना चाहिए। जाने की सब तैयारी हो गई। परन्तु कलकत्ता आकर सुबह के समाचार पत्र में देखा कि स्वामी विज्ञानानन्दजी का देहावसान हो गया है। स्वामी जी अपने आप हँसकर बोले – "इसका मतलब कि तुम मुझे क़िसी भी सम्प्रदाय में

शामिल नहीं करोगे।" फिर स्वामी जी ने स्वयं सभी प्रकार के अनुष्ठान किए और परमात्मा से प्रार्थना की कि – "मेरे संन्यास ग्रहण के अवसर पर आप सभी उपस्थित रहना।" ऐसा ही हुआ भी। गहन रात्रि को जब क्रिया-कर्म अनुष्ठान आरम्भ हुआ तो उन्हें प्रतीत हुआ कि वहाँ परमहंस देव, ईसा मसीह, चैतन्य देव, शंकराचार्य सभी उपस्थित हैं। यह अनुभूति अत्यन्त जीवन्त थी। संन्यास ग्रहण करने के पश्चात एक अपूर्व शान्ति मिली। प्रमथनाथ जी प्रत्यगात्मानन्द जी हो गए। द्वैतलेशहीन अवस्था - स्वलसित आनन्द में सर्वदा विभोर! वही जैसा कि जपसूत्रम में है – "मातृवक्षःशयानस्य क्वाहं क्वू त्वं ममेति वा।" अथवा "ना वा बन्धो ना वा मुक्ति विद्याविद्ये शिवापदे।"

माँ की छाती से लिपटकर जब बालक सो गया तो कहां 'तुम्हारा मैं' या कहां 'मेरी तुम!' "मैं बँधा भी नहीं हूँ मुक्त भी नहीं हूँ। अविद्या अथवा विद्या भी नहीं हूँ" यह परमानुभूति शिवापदे है। इस प्रकार रात-दिन समाधि की अवस्था में विराजमान रहते। परमानन्द में विभोर। भीतर जो हैं बाहर भी वही प्रत्यगात्मा वेश बदलकर अन्यत्र विराजमान हैं। स्वामी जी के मुख से सुनी इस अवस्था का उल्लेख उनके ग्रन्थ में करके उसे समझने की चेष्टा की है। इस उपलब्धि को समझा नहीं जा सकता केवल अनुभव किया जा सकता है। प्रति बार शिवरात्रि के दिन स्वामी जी यह अंश मुझे पढ़ने को कहते और अत्यन्त सुन्दर ढंग से इसकी व्याख्या करते। उस समय की उनकी उज्ज्वल मुख छवि आज भी मेरे मानस पटल पर अंकित है। अतल सागर के तल में तो नहीं पहुँच सकी, केवल छींटों की खबर रख पाई। किंतु उनके उस विराट अस्तित्व में शामिल अवश्य हुई।

(13)

स्वामी जी के मुख से सुनी एक और घटना का उल्लेख करके बात आगे बढ़ा रही हूँ। महाप्रभु का एक भक्त था जिसका नाम गोविन्द था। प्रतिदिन स्वामी जी के भोजन के पश्चात गोविन्द उनके पैर दबाता था। एक दिन स्वामी जी भोजन करने के पश्चात दरवाजा अटका कर सो गए। महाप्रभु का शरीर काफी भारी था। गोविन्द ने आकर देखा कि महाप्रभु इस प्रकार सो रहे हैं कि कमरे में घुसने का स्थान ही नहीं है। गोविन्द पद सेवा कैसे करे। तब उसने महाप्रभु के शरीर को एक चादर से ढक दिया ताकि उसके पैरों की धूल महाप्रभु के शरीर पर न पड़े और उन्हें लांघ कर अन्दर चला गया। भीतर जाकर वह महाप्रभु के पैर दबाने लगा। थोड़ी देर बाद रसोईधर से गोविन्द को खाना खाने के लिए पुकार होने लगी – 'गोविन्द खाना खाने आओ' - परन्तु गोविन्द ने कोई उत्तर नहीं दिया। महाप्रभु तो जगे ही हुए थे उन्होंने कहा – "गोविन्द तुम्हें भोजन के लिए बुला रहे हैं तुम जा क्यों नहीं रहे हो?" गोविन्द ने कहा – "कैसे जाऊँ प्रभु, आपने तो दरवाजा अटका रखा है।" इस पर महाप्रभु ने कहा – "गोविन्द आए कैसे?" गोविन्द ने उत्तर दिया – "प्रभु, अन्दर तो आपकी सेवा के लिए आया था परन्तु बाहर अपनी सेवा के लिए जाना है।" इस प्रकार की अनेक छोटी-छोटी घटनाओं के माध्यम

से वे धर्म के मूल तत्व की बात हमें बताया करते थे। 'पारेरकड़ी' में बहुत सी छोटी-छोटी कहानियां सरल भाषा में कही गई हैं।

स्वामी जी के भीतर ज्ञान, भक्ति और योग की त्रिवेणी थी। संन्यास ग्रहण करने के पश्चात स्वामी जी ने जिस प्रकार गृहस्थाश्रम की सारी वस्तुओं का त्याग किया उसी प्रकार रुपये-पैसे को छूना भी त्याग दिया। इसकी वजह से उन्हें कई बार काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। कहीं जाते समय केवल टिकट हाथ में लेकर जाते थे। एक बार रिक्शा से किसी के घर गए। रिक्शेवाले को किराया न दे पाने की वजह से वह स्वामी जी को पाखंडी कहते हुए मारने के लिए तैयार हो गया। स्वामी जी जिनके घर गए थे वे उस समय घर में उपस्थित नहीं थे। स्वामी जी रिक्शेवाले को नहीं समझा पाए कि गृह स्वामी के आते ही उसे रिक्शा का किराया मिल जाएगा। इसी प्रकार एक बार उनके किसी भक्त ने ट्राम में उनका भाड़ा कन्डक्टर को देकर स्वयं उतर गया। कन्डक्टर ने टिकिट और बाकी बचे पैसे स्वामी जी के हाथ में रख दिए। पैसे तो तत्काल स्वामी के हाथ से गिर ही गए, पर जब हमारे घर आकर उन्होंने हाथ धोने के लिए गंगा जल मांगा तो देखा गया कि उनकी हथेली से लेकर कोहनी तक काले दाग पड़ गए थे। और एक बार की घटना है – स्वामी जी किसी महापुरुष के आश्रम में गए। स्वामी जी जिस कमरे में बैठे थे वहीं बैठकर दो युवक भेंट में आए रुपये पैसों की गिनती कर रहे थे। थोड़ी देर के बाद स्वामी जी ने कहा – "मुझे यहाँ से बाहर ले चलो, यहाँ मेरा दम घुट रहा है।"

सारा जीवन कठोर साधना करके सिद्ध होने के बाद उसे बनाए रखना कठिन कार्य होता है। स्वामी जी ने उसे अपने जीवन के माध्यम से दिखाया है। संन्यास ग्रहण करने के पश्चात इलाहाबाद में वे अपने एक मित्र के घर में रहते थे। चार मील रास्ता चलकर प्रतिदिन गंगा स्नान करते थे। एक दिन गंगा स्नान करके लौटे और कमरे में पहुँचे। वहाँ उनके मित्र की लड़की कुर्सी पर बैठकर पुस्तक पढ़ रही थी। उसने पढ़ते-पढ़ते अपने केशों को पीछे की तरफ झटका। स्वामी जी के हाथ पर उसके केश आकर गिरे। स्वामी जी तुरन्त ही उल्टे पैर गंगा स्नान के लिए चल दिए। गंगा की मिट्टी से रगड़कर हाथ धोए और फिर से स्नान किया। वहीं पर एक बार उनका कोपीन किसी स्त्री की साड़ी से सट गया। उन्होंने उस कोपीन को ही फेंक दिया। संन्यास लेने के पश्चात वे स्त्री स्पर्श से भी दूर रहते थे, यहाँ तक की उन्हें चरण स्पर्श तक नहीं करने देते। केवल छोटी कुमारी कन्याएं ही उनको स्पर्श कर सकती थीं। हालांकि बाद में विशेष-विशेष अवसरों पर उन्होंने इस नियम को शिथिल कर दिया था।

स्वामी जी प्राचीन युग के ऋषियों की प्रकृति लेकर आए थे। इसीलिए एकान्त एवं निर्जन स्थान ही उन्हें पसन्द आता था। प्रकृति के स्वाभाविक स्वर अर्थात पक्षियों का कलरव, पत्तों की मर्मर ध्वनि के बीच ही वे स्वस्ति भाव से रह पाते थे। किसी प्रकार की कृत्रिम आवाज, मनुष्यों का कोलाहल, बेसुरा छन्द या आवाज उनके भीतर के अनाहत नाद एवं छन्द

में बाधा उत्पन्न करती थी। इससे उन्हें बहुत परेशानी होती थी और वे स्थिर होकर नहीं बैठ पाते थे। हमने उन्हें बहुत छोटी आयु से देखा था कि कभी वे अपने आप हँसते, कभी रोते, कभी अपने आप ही किसी से बात करते, कभी आँखें बन्द करके समाधि लगाकर निश्चल होकर बैठ जाते। बाहर कुछ भी होता रहे। स्वामी जी भाव साधना में मग्न होकर बैठे रहते थे।

विश्व क़ल्याण का जो व्रत उन्होंने यौवन काल में लिया था – जीवन भर उस व्रत को कभी नहीं भूले थे। अपनी स्वच्छन्दता, शान्ति यहाँ तक की समाधि ने भी उन्हें उस व्रत के पथ से च्युत नहीं किया। इसीलिए सारा जीवन उन्होंने अनलस भाव से जो कुछ अर्जन किया – अपनी लेखनी के माध्यम से उसे वैसे ही वितरित कर दिया। विशेषकर इसी कारण से उन्हें शहर में रहना पड़ा था। परन्तु कहीं भी स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं रह पाने के कारण विभिन्न स्थानों पर घूमते रहते थे।

स्वामी जी स्वयं कहते थे कि मेरा काम अनुसंधान का है, जिसे कमरा बन्द करके, अकेले बैठकर ही करना पड़ता है। किसी भी आधार के लिए सही पद्धति अपनाकर जप के द्वारा देह, मन एवं प्राण को एक किया जा सकता है, जप के इस विज्ञान की खोज स्वामी जी ने की थी। जब मन अधिक चंचल हो तो सोममात्रा की सहायता लेनी चाहिए। जब जड़ता या आलस्य अथवा अवसादग्रस्त मन हो तो अग्निमात्रा की सहायता से इसे दूर किया जा सकता है। इस युग में अधिकतर लोग यही कहते हैं कि "हमें न तो ईश्वर चाहिए और न ही मुक्ति चाहिए।" परन्तु देह एवं मन स्वस्थ बना रहे यह तो सभी चाहते हैं। व्याहरण के साथ जप करने से मन एवं देह स्वस्थ रखे जा सकते हैं। व्याहरण का अर्थ होता है विशेष प्रकार से आहरण। श्वास के छन्द के साथ मेल रखते हुए जप के छन्द मिलाने की पद्धति ही व्याहरण कहलाती है। इसमें उदय, मध्य और विलय होता है तथा उसके बाद थोड़ा सा अवकाश होता है। जिस प्रकार नाच एवं गीत के अन्त में थोड़े से अवकाश को शयन कहा जाता है। वह सम या अवकाश लंबा नहीं होना चाहिए और साथ ही साथ उदय से आरम्भ होना चाहिए। जपसूत्रम में इस बात को अनेक प्रकार से कहा गया है। ये सारी बातें मैंने स्वामी जी के मुख से ही सुनी हैं। पूजनीय गोविन्द बाबू ने अपने ग्रन्थ 'महाजन संवाद' में स्वामी जी के ग्रन्थ के संबंध में बहुत सुन्दर ढंग से लिखा है।

(14)

स्वामी जी आचार्य की भूमिका लेकर जन्मे थे। संन्यास लेने के बाद वे सर्वदा सभी जीवों में प्रत्यगात्मा का दर्शन करते थे। इसीलिए गुरु-शिष्य संपर्क स्थापित करने की मानसिक प्रस्तुति आरम्भ में उनमें तनिक भी नहीं थी। मेरे पिता द्वारा बहुत अनुरोध करने पर स्वामी जी उन्हें दीक्षा देने के लिए राजी हुए। दीक्षा देने वाले दिन बहुत लोगों ने उन्हें अपने आसन से ऊँचा उठकर बैठे हुए देखा था। बाद में हँसकर कहा करते थे – "दरवाजा जरा सा खुला छोड़ रखा था उसमें से कुछ लोग घुस आए।" वे तो मणि मुक्ता के व्यवसायी थे, हम उनके पास लोहा

एवं जस्ते का व्यापार करने जाते थे। फिर भी हमें व्यापार में लाभ ही प्राप्त होता था। जो परमात्मा के साथ नित्ययुक्त होते हैं वहां तो उनकी करुणा के कारण असम्भव भी सम्भव हो जाता है। परन्तु स्वामी जी इस कार्य के लिए तो आए नहीं थे। इसीलिए एक पत्र में उन्होंने लिखा था – 'सद्‌गुरु की शुभ इच्छा सूर्य की किरण की तरह सर्वदा विकीर्ण होती रहती है, परन्तु उससे संसार के छोटे-माटे कार्यों की पूर्ति करना ही लक्ष्य नहीं होना चाहिए। यह तो वैसे ही हुआ जैसे कड़ी धूप में बड़ी (पापड़-बड़ी) सुखाना या भीगे कपड़े सुखाना।'

बाह्यिक अनुष्ठान उन्हें पसन्द नहीं था। क्योंकि उसमें प्रायः भाव ठीक नहीं रह पाते हैं। उसकी वजह से प्राणहीन अनुष्ठानों के बन्धन में घूमते रहना पड़ता है। उससे ऊपर उठने का रास्ता नहीं दिखलाई देता है। इसीलिए वे कभी-कभी दुखी होकर कहते थे –"हमेशा एक ही कक्षा में रहोगे, प्रोन्नति नहीं करना चाहते?" लौकिक नेत्रों के अंतराल से उन्होंने भावों के भंडार को उजाड़ कर दिया है, जो मनुष्य के जीवन में पाथेय बनकर 'पार होने की कड़ी' बनती है। अन्तिम दिनों में देखा गया कि एकान्त में बैठकर वे आँखें बन्द करके छन्दों की मात्राओं को गिना करते थे। प्रायः प्रतिदिन वे कुछ न कुछ श्लोकों की रचना किया करते थे। चाण्डुली में आश्रम स्थापना के कुछ दिन बाद वे काफी अस्वस्थ हो गए थे। लगातार पाँच दिनों तक शरीर से रक्तक्षरण होता रहा तब भी उनका श्लोक की रचना करने का काम बन्द नहीं हुआ।

वे नियमित रूप से श्लोक रचना किया करते थे। इसी का परिणाम है कि विचित्रा श्लोक मंजरी का प्रथम एवं द्वितीय स्तवक प्रकाशित हुआ। जीवन के प्रारंभिक काल में और उसके बाद भी उन्होंने ऐसे गंभीर एवं दुरुह ग्रन्थों की रचना की है कि भविष्य में इन्हें लेकर प्रश्न उठ सकता है कि ये ग्रंथ उनके हैं या नहीं। लेकिन अत्यंत साधारण आधार के लिए ही शायद स्वामी जी ने इन श्लोकों के माध्यम से साधारण मनुष्यों को ऊपर उठने के लिए दिशानिर्देश दिया है। उदाहरण के लिए – "तप, सत्य, सरलता – ये तीनों तुम्हारे जीवन रूपी बाग को सजाएंगे।"

"ता ना करे केनो बलो, कपटता मिथ्याचारे,
ये भवेर दोकान भरिवे?
की करिबो दारासुत बान्धवेर तरे, कवि पचा घियेर कारबार।
तबु, इष्ट गुरु अर्चनाय, अवश्यई चाई शुद्ध घृत उपचार।" अथवा
"छाड़ो यतेक छलाकला 'जय बाबा' बोले हओ भाव पागला
तबई 'एशो बाछा' बले कोले टेने नेबे रे।"

और "जे गुरु-इष्ट कल्पतरु तव गृहे अधिष्ठित तार सेवा यदि, सर्वाभीष्टपूरनेर तरे, चाओ करिबारे, तबे एई एक शर्त – सर्वाग्रेई, प्रथमेई करो ताहा स्थिर मति बोलो ना कखनऊ आगे अन्य काज, बोड़ोई जरूरी तुमी तार परे।"

("तप, सत्य, सरलता को छोड़कर कपट और मिथ्याचार को अपनाकर संसार की दुकान भरते हो। लेकिन क्या करें! पत्नी, संतान और बंधु-बांधवों के लिए सड़े हुए घी का कारबार करता हूं। इसके बावजूद इष्ट गुरुओं की अर्चना करके शुद्ध घी का उपचार चाहते हैं।" अथवा "इन सभी छलनाओं को छोड़ो और 'जय बाबा' बोलते हुए भावनाओं में पागल बने रहो। तभी वे 'आओ बच्चे' कहकर अपनी गोद में बिठा लेंगे।"

इसी प्रकार "जिस घर में गुरु-इष्ट कल्पतरु की तरह अधिष्ठित हैं और उनकी सेवा सर्वाभीष्ट की पूर्ति हेतु करना चाहते हो तो उसकी एक ही शर्त है कि सबसे पहले, प्रारंभ में मन में यह दृढ विचार कर लो कि वे सबसे ऊपर हैं। कभी यह मत कहो कि पहले यह काम है जो बहुत जरूरी है। पहले वे हैं उसके बाद तुम हो।")

इन सब पंक्तियों को यहां उद्धृत करने का उद्देश्य यही है कि बहुत लोगों ने स्वामी जी के ग्रन्थों को अत्यन्त दुर्बोध कहा है और उन्हें पढ़ने में अरुचि दिखाई है। वे लोग यदि मन स्थिर करके इन ग्रंथों को पढ़ें तो पाएंगे कि उनके जीवन की अनेक सारी समस्याओं का समाधान इन ग्रन्थों में वे दे गए हैं। स्वामी जी कहा करते थे -"ग्रन्थों की भी कृपा होनी चाहिए। इसीलिए ग्रन्थों से प्रार्थना करनी चाहिए कि वे हम पर कृपा करें।"

(15)

अब तक तो कुछ घटनाओं का उल्लेख मात्र किया गया है। उन्होंने तो स्वयं को गोपन ही रखा है। हालांकि मैंने स्वामी जी को बहुत निकट से देखा है और जिन लोगों ने उन्हें नहीं देखा है, उनके लिए मैंने अपनी स्मृति से कुछ घटनाओं का उल्लेख करके उनका परिचय देने का प्रयत्न किया है, परन्तु उनकी काया के दिव्य सौरभ, अकृत्रिम उज्ज्वल मधुर हँसी तथा उनके असाधरण व्यक्तित्व का परिचय अपनी लेखनी द्वारा कैसे दूँ, यह समझ से परे है। इसीलिए उनके ग्रन्थों के प्रति अधिक उत्साह जागृत करने का प्रयास किया है। साधु महापुरुषों का परिचय उनके बाहरी जीवन को देखकर देना कठिन है क्योंकि वे तो अन्तर्मुखी होते हैं। देह से मन को कितना अलग रख सकते हैं, यह हमारी सोच से भी परे है। हम उनके बाह्य स्वरूप को देखकर उसपर विचार करते हैं, उनके भीतर जो फल्गु धारा प्रवाहित होती रहती है, उसे हम पहचान ही नहीं पाते। स्वामी जी के एक शिष्य बलराम बाबू ने जिस दिन देह त्याग किया उस दिन स्वामी जी गड़िया में थे। रात का 12 बज गया पर स्वामी जी सोने नहीं जा रहे हैं। उनसे सोने के लिए कहने पर बोले – "कैसे सोने जाऊँ – जवा के पेड़ के नीचे 'माँ' खड़ी हँस रही हैं।" कभी कहते "राधा-कृष्ण झूला झूल रहे हैं – सामने स्पष्ट दिखाई दे रहा है।" वे काली और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं देखते थे। वे "कभी श्याम कभी श्यामा" दोनों का दर्शन करते थे। हम जब दूर से आते तो कई बार वे अपने चारों तरफ एक प्रभामंडल देखते थे; जिससे वे समझ जाते थे कि कौन कैसा है अर्थात उसके मन की अवस्था कैसी है। आभा (Aura)

बाहर का एक सूक्ष्म आवरण होता है जिसके विभिन्न रंग होते हैं जिसे देखकर महापुरुष समझ जाते हैं कि कौन मनुष्य कैसा है। भीतर की अवस्था जानने के पश्चात वे उसे वैसा ही उपदेश देते थे। इसीलिए उपदेश सभी को एक जैसा नहीं दिया जाता था।

जिस छन्द को लेकर वे सारा जीवन चलते रहे परवर्ती जीवन में देखा गया कि वही छन्द उनका अनुसरण कर रहा है। बाहर कुछ लोग उनसे मिलने आए हैं, वे उनसे बातचीत कर रहे हैं। अचानक उन्हें छोड़कर उठ गए कि खाना बनाने का समय हो गया है। उनके हाथ में घड़ी तो थी नहीं। दोपहर को खाना खाने के पश्चात पूछते क्या समय हुआ है? हमने यह नोट किया कि बाहर से कितना भी विघ्न आए, बाधा आए, उनका सारा काम निर्धारित समय पर पूरा होता था। अन्त तक यही क्रम चलता रहा था, यहाँ तक की अन्तिम दिन भी ऐसी ही एक घटना घटी। कई दिनों से उनकी छाती में हल्का-हल्का दर्द हो रहा था। इसीलिए वे यतीन दास रोड में 'कालीपद बाबू' (उनके एक शिष्य) के घर में रहते थे। कुछ दिन वहाँ रहने के पश्चात कलानवगांव जाने की बात थी। 19 अक्तूबर शुक्रवार का दिन था। शाम को पटाखों की आवाज से उन्हें तकलीफ हो रही थी, परन्तु कलानवगांव जाने के लिए गाड़ी की व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। शब्द रूपी दानव के हाथ से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने देह त्याग करने का संकल्प कर लिया। क्योंकि जब शाम को विभा काकी माँ (शिष्या) ने पूछा – "साथ में क्या-क्या जाएगा?" तो उन्होंने दृढ़ स्वर में कहा "कुछ नहीं, खाली हाथ जाऊँगा।" हालांकि प्रत्येक बार उनके साथ कम से कम खाना बनाने का सामान जरूर जाता था। दण्डीस्वामी जी (स्वामी जी के साथ बहुत दिनों का परिचय था) ने आकर कहा – "स्वामी जी मैंने आपको स्वप्न में देखा है, आप एक छोटा सा वस्त्र पहनकर खड़े हुए हैं। इसीलिए मैं शिव के मस्तक पर बेल पत्र चढ़ा रहा हूँ।" उत्तर में स्वामी जी ने कहा शिव के मस्तक पर बेल पत्र चढ़ाना अच्छा होता है। मैं जब अपने घर जाने लगी तो उन्होंने कहा – "दो दिनों के लिए अपने घर आश्रय दोगी?" अपने घर आकर पता किया वहाँ भी पटाखों का शोर मचा हुआ था। अतः यही निर्णय किया गया कि स्वामी जी सुबह गड़िया चले जाएंगे। रात ढाई बजे के करीब उन्हें हल्का सा दिल का दौरा पड़ा। मेरी माँ उनकी खबर जानने के लिए बहुत परेशान हो रही थीं। फोन करने पर ज्ञात हुआ कि स्वामी जी रात को अस्वस्थ हो गए हैं। वहाँ पहुँचकर देखी कि स्वामी जी कुर्सी पर बैठे हैं। देखते ही बोले 'छाती का दर्द कम नहीं हो रहा है। विभा काकी माँ ने कहा – "सीधे होकर लेट जाएँ थोड़ी देर के लिए।" तब जाकर बिस्तर पर लेटे। डाक्टर ने आकर देखा और कहा "बुधवार को जैसी हालत थी, अभी भी वैसी ही है।" इ. सी. जी. कराने की बात हुई। तय हुआ कि शाम को एक आदमी आकर इ. सी. जी. करेंगे। स्वामी जी दवा बहुत कम खाते थे और अधिक जाँच आदि करवाना भी पसन्द नहीं करते थे। मुझे ठीक 11 बजे घर भेज दिया और कहा – "दो-ढाई बजे आ जाना।" इस बीच मैंने अपनी मझली बहन को खबर दी। हम दोनों बहनें जब वहाँ पहुँचीं तो पता चला कि कुछ देर पहले ही वे उठकर बैठे हैं। देखा स्वामी जी कुर्सी पर बैठे हुए हैं। बोले कष्ट हो रहा है, दर्द कम नहीं हो रहा है। पर उनका भाव देखकर

ऐसा नहीं लग रहा था। वे अपने को हमेशा 'यह शरीर' कहकर पुकारते थे उसका तात्पर्य और उसकी सच्चाई उस दिन समझ पाई। हमने सुबह में महसूस किया था डॉक्टर जो पूछ रहे हैं उसका उत्तर वे संक्षेप में दे रहे हैं। उनकी दृष्टि सामने की ओर स्थिर थी। विभा काकी माँ ने आकर पूछा - "थोड़ सा अनार का रस लेंगे।" स्वामी जी ने कहा, "दे दो परन्तु जरा सा सोडीबिकार्ब मिला कर देना। जरा सा भी कुछ खाते ही अम्ल हो जाता है।" विभा काकी मां ने पहले थोड़ा सा रस ग्लास में ढाल दिया। वे पूरा पी गए। फिर अपनी नाड़ी स्वयं देखी और लेट गए। वे लेटकर ही प्राणायाम करने लगे। अचानक ही एक हिचकी आई, दोनों गाल फूल गए, शरीर में कंपन हुआ और वे बाईं ओर झुक गए। पल भर में ही शरीर शान्त हो गया। उस समय दिन के तीन बजकर बीस मिनिट हुए थे। आँखें बन्द, मुंह भी बंद। चेहरा गेरुया रंग में रंगा हुआ। एक अपूर्व आभा मुख मण्डल पर छाई हुई थी। रोज ही तो जाती थी उनके पास। कल जब घर लौट रही थी तो उन्होंने कातर होकर कहा था "दो दिनों के लिए थोड़ा आश्रय दोगी?", तो बात समझ में नहीं आई थी। आज लग रहा है जैसे प्रत्यगात्मा प्रत्येक जीव के हृदय में आश्रयप्रार्थी होकर खड़े हैं। इस क्षणभंगुर जीवन में आश्रय पाने के लिए एक शर्त है – बेसुरा बेताला छन्द नहीं रहना चाहिए - उनके छन्द के साथ ताल मिलाकर ही उन्हें आश्रय दिया जा सकता है। जो हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है –"तुम्हारे ही सुर में हे स्वामी!" वहीं उनका आश्रय होगा। उन्हीं की भाषा में कहें –

"यदि ताँते हओ एकतान,
सुर तार परानी मिलाय
यदि तार बाणीते रओ
ज्योति तार झरणा खुली बय।"
(निवासः शरणं सुहृत)

अन्तिम समय में जब मैं उनके निकट अकेली थी, उनके प्राणायाम करते समय उनके शरीर के ऊपर एक सूक्ष्म शरीर का दर्शन हुआ। वह सफेद, स्वच्छ, चमकदार और उनके शरीर से जरा बड़े आकार का था। पहले लगा यह आँखों का भ्रम है, परन्तु खिड़की की तरफ देखा और फिर से इधर देखा तो उसी तरह दिखाई पड़ा। उस समय सूर्य का प्रकाश फैला हुआ था, अतः आँख के भ्रम की गुंजाइश नहीं थी। स्वामी जी की अहेतुक कृपा से यह दर्शन संभव हुआ था।

जप एवं उसके प्रकार

जपसूत्रम में कहा गया है कि जप ही एकमात्र पूर्णांगसाधन है जिसके द्वारा हमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों प्रकार के फल प्राप्त हो सकते हैं – "पूर्णमपूर्णं सर्वंजपने।"

साधु-सन्तों के मुख से सुना है कि "नाम करो, नाम से ही सब कुछ होगा।" कई बार मन में यह संशय उठता है कि 'अमुक व्यक्ति ने कितने ही दिन जप किया उसे क्या फल मिला।' पर यह स्मरण रखना होगा कि सभी प्रकार के कर्मों की अपनी विधि होती है। उस विधि के अनुसार कार्य नहीं किया जाए तो सफलता की आशा नहीं करनी चाहिए। इसीलिए जप क्रिया की जो वैज्ञानिक विधि है, उसका ज्ञान रहना आवश्यक होता है। 'जपसूत्रम' में इसका विस्तार से विवरण दिया गया है। उस ग्रन्थ का अध्ययन करने के पश्चात इस संबंध में दो चार बातें कहने का प्रयास कर रही हूँ।

जप कोई यांत्रिक क्रिया मात्र नहीं है, क्योंकि हम जिसे काया कहते हैं वह असल में त्रिपुटी प्राण, स्थूल शरीर या देह और मन या चित्त को मिलाकर बनती है। सृष्टि के मूल में जो कार्य करने वाली शक्ति होती है उसे यदि प्राण नाम दिया जाए तो वह प्राण ही हमारी काया में त्रिपुटी रूप धारण करता है। इसीलिए जप करने वाली स्थूल देह और मन दोनों ही के मूल में प्राण होता है। देह एवं मन का स्वाच्छन्द्य-विधान मूलतः प्राण ही करता है। अतः प्राण का ठीक प्रकार से स्वाच्छन्द्य एवं विकास करना ही हर तरह की साधना का मूल होता है। शक्ति को आधानरूप से देखने पर जो प्राण है वही क्रिया या प्रयोग रूप से देखने पर वाक् है। एक होता है उत्स और दूसरा उससे होने वाला उत्सरण। अतः हमें वाक् को उच्चारित या श्रुत शब्द मात्र नहीं मानना चाहिए। शक्ति के उत्सरण में जिस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर आदि का क्रम होता है, वाक् में भी उसी प्रकार का क्रम होता है। इस क्रम के द्वारा ही वाक् चतुष्पदी – अर्थात बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा का निर्माण होता है। जपकर्ता को भी जप के लिए भी इसी प्रकार से जप की चारों अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है।

वाक् जब स्थूल सीमा के बीच अटका रहता है अर्थात जब अभिघात से (due to friction) उत्पन्न होता है और नष्ट होता है तो उस वाक् को बैखरी कहते हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने के यात्रापथ में जो सेतु है उसे मध्यमा कहा जाता है। सूक्ष्म चेतन अवस्था को पश्यन्ती कहते हैं। इस भूमि पर पहुंचकर अनेक तरह के रूपों तथा शुद्ध ज्योति दर्शन एवं नाद-श्रवण होता है। यहां विभिन्न प्रकार के तत्त्व-रहस्य भी प्रकट होने लगते हैं।

चूँकि वाक् प्राण का प्रकाशित स्पन्द रूप होता है, इसीलिए वाक् के पीछे जो विज्ञान होता है वह दरअसल स्पन्द-विज्ञान है। इस स्पन्द-विज्ञान को हमें भूत-विज्ञान या यांत्रिक स्पन्दन के साथ घालमेल नहीं करना चाहिए। साधारण स्पन्द-विज्ञान के देशकाल, प्रयोजन आदि को लेकर जो सीमाएं निर्धारित की गई हैं, वाक्रूप प्राणस्पन्दन ऐसी किसी सीमा में नहीं

बंधा है। बैखरी वाक् हमारे इस स्थूल शरीर में विद्यमान दस तरह के गौण प्राणों में शामिल है और उसी के अधीन कार्य करता है। बैखरी से मध्यमा का सेतु पार करने के लिए गौण प्राण से मुख्य प्राण तक जाना होता है। तब वह भूत एवं भौतिक के शासन से मुक्त होता है। वह स्वच्छन्द एवं नियतधर्मी भी होता है। किन्तु किसी भी भूमि पर वाक् छन्दरहित नहीं होता। केवल छन्द बदल जाता है एवं बृहत्तर एवं महत्तर होता रहता है। इसीलिए बैखरी जपकर्ता का सदैव यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह बैखरी के विषम एवं अनियत छन्दों को काटकर मध्यमा के सुषम एवं नियतछन्द में जाने की कोशिश करे।

हम जो जप करते हैं वह साधारणतः बैखरी होता है और जरा सा प्रयास करने पर ही वह समझ में आ जाता है। यह जप जिस समय चलता रहता है उस समय हमारी त्रिपुटी में विद्यमान विभिन्न प्रकार की बाधाओं के कारण हमें विशेष फल प्राप्त नहीं होता है, जैसे प्राण की स्वच्छन्दता, मन की प्रसन्नता आदि। इस प्रयोजन हेतु बैखरी जप करते समय एक विशेष विधि अपनानी पड़ती है। लघु, गुरु का ध्यान रखते हुए मंत्रों के शुद्ध उच्चारण को ही साधारणतः व्याहरण कहा जाता है। श्वास के छन्द के साथ मंत्र के छन्द को मिलाकर इस प्रकार से अन्वित करना चाहिए कि मन अलग न रह जाए। मन अपने आप ही उसका सहयोगी हो जाए। और यदि मन स्थिर हो गया तो प्राण भी उसका सहायक हो जाएगा तथा वह भी अपना विरोधी भाव त्याग देगा। बैखरी जप में भी कभी-कभी मन ऐसा रम जाता है कि पास में ही बहुत जोर-जोर से बातचीत चल रही हो, बात सुनाई भी दे रही हो, परन्तु माथे में कुछ नहीं जाता है। हल्की-हल्की नींद आते समय मन की जैसी अवस्था होती है उसी तरह। शरीर में जैसे एक प्रकार के संवेग का भाव। जप के पश्चात मन शान्त एवं दृष्टि स्थिर हो जाती है। ऐसा जप होने पर ही यह समझना चाहिए कि बैखरी जप मध्यमा की देहली तक पहुँच गया है। व्याहरण एक प्रकार की विशेष विधि होने के बावजूद उसमें अपना प्रयास भी जारी रहता है। इसलिए अपना प्रयास भी समस्त बाधाओं को पार कर अनायास उस भूमि पर पहुंच जाए इसका ध्यान रखना आवश्यक है। मध्यमा की भूमि पर जप किया नहीं जाता, बल्कि जप होता है। और यह 'होना' धीरे-धीरे पश्यन्ती एवं परा की तरफ केन्द्रित होता चला जाए यही लक्ष्य रखना चाहिए। बैखरी जप के तीन स्तर होते हैं – वाचिक, उपांशु तथा मानस। स्फुट स्वर में उच्चारित जप को वाचिक कहते हैं। अस्फुट स्वर अर्थात जप करने वाला ही सुन सके और कोई नहीं सुन सके उस जप को उपांशु कहते हैं। और जिह्वा एवं ओष्ठ इत्यादि के संचालन के बिना जो जप किया जाता है उसे मानस जप कहते हैं। अनेक लोग मानस जप को ही मध्यमा की भूमि कहते हैं जो गलत है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मध्यमा के लिए किसी प्रकार के प्रयास की आवश्यकता नहीं होती है। बाहर के इस शरीर रूपी यंत्र को मानो किसी ने ताला-चाबी से बंद कर दिया है। जपकर्ता को बाह्य ज्ञान होता है, किन्तु अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने की शक्ति नहीं रहती है और कोई इच्छा भी जागृत नहीं होती है। इस अवस्था में मानो भीतर कोई एक मधुर छन्द में जप कर रहा है। अपनी सत्ता इसी में विलीन हो जाती है। इसी अवस्था को मध्यमा कहते हैं।

साधारणतः वाचिक स्तर से ही जप आरंभ किया जाता है। उस समय अग्निमात्रा एवं सोममात्रा की सहायता से कैसे विषमता के स्थान पर समता लाई जा सके इसका ज्ञान होना आवश्यक होता है। अग्नि कोई साधारण अग्नि नहीं और सोम भी सोमलता का रस या चन्द्रमा नहीं। अग्नि होती है दीपनी और पचनी तथा सोम शमनी एवं पोषणी। वृहदारण्यक उपनिषद में 'जगत् अग्निसोमीयं' कहा गया है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में सोम एवं वैश्वानर के बारे में भी कहा गया है। साधारणतः हमारी कायारूपी यंत्र में ये संवाद नहीं परस्पर विवाद बनकर रहते हैं। जप का उद्देश्य होता है इस विवाद को सम्वाद में लाना। अग्नि प्रबल रहने पर हमारे रजोगुण एवं वायु के लक्षण दिखाई देते हैं, सोम प्रबल रहने पर तमोगुण या स्त्यानभाव दिखाई पड़ता है। जप करते समय हमारा कौन गुण प्रबल है उसको ध्यान में रखकर जप करना चाहिए ताकि हम दोनों में समानता बनाए रख सकें। ठीक प्रकार से जप करने पर दृष्टि, वायु, रसना एवं चित्त स्थिर रहते हैं। साधारण बैखरी जप द्वारा भी ऐसा होना सम्भव होता है। मध्यमा इत्यादि भूमि पर कुलकुण्डलिनी की जागृति; नादश्रवण, ज्योतिदर्शन एवं स्वरूपानन्द की अनुभूति होती है। आरंभ से ही रस के लिए व्याकुल नहीं होना चाहिए। हमारे भीतर तो रस का भंडार है ही, हम उस रस भण्डार की चाबी नहीं ढूँढ पा रहे हैं इसलिए इतनी गड़बड़ी होती है। व्याहरण, अनुस्मरण रीति से जप करने पर हमेशा उपलब्धि होगी, भाव एवं रस पूरी तरह प्राप्त होगा और वह आभासिक या खंडित नहीं अपितु सत्य एवं पूर्ण होगा। प्रारंभ में जप की संख्या पर जोर दिया जाना चाहिए ताकि प्राणों का व्यायाम साधित हो एवं संकल्पों में दृढ़ता आए।

व्याहरण विधि से जप करते समय अधिक बार जप की आवश्यकता नहीं होती है। 10 या 18 बार जप करने पर ही विशेष फल की प्राप्ति हो जाती है। व्याहरण जप करते समय आहार, आचार एवं विचार तीनों की शुद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। किसी भी प्रकार का आमिष या उत्तेजक आहार नहीं करना चाहिए। यहाँ आहार का तात्पर्य है – आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा आदि पांचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाने वाला सुख। पद्मासन मुद्रा में बैठकर जप करना सही तरीका कहलाता है। व्याहरण जाप करने पर प्राणायाम, भूतशुद्धि की अलग से आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि व्याहरण रीति से जप पूर्णांगसाधन कहलाता है।

बाह्य रूप से न सही अन्तर से ही गुरु की संगति, सत्संग एवं शास्त्र-संगति अत्यन्त उत्तम होती है। आरम्भ से ही पश्यन्ती भूमि के दर्शानादि, विभूति के संबंध में लालची नहीं होना चाहिए। यदि कभी पश्यन्ती से कोई आलोक या पुलक मिले तो बहुत उल्लसित नहीं होना चाहिए। यह तो पथ पर अग्रसर होने की सूचना मात्र होती है। बहुत बार ऐसा होता है कि जप करने वाले को किसी प्रकार की अलौकिक अनुभूति, जैसे रूपदर्शन, नादश्रवण अथवा ज्योतिदर्शन इत्यादि न होने पर वह हताश हो जाता है और सोचता है कि जप का कोई फल

नहीं प्राप्त हुआ। यह स्मरण रखना चाहिए कि वास्तविक रूप से ऊपर उठने के लिए अलौकिक अनुभूति का होना आवश्यक नहीं होता। यह देखना चाहिए कि जीवन कैसे चल रहा है। पहले जैसे काम, क्रोध के वशीभूत रहते थे, वैसी ही अवस्था है या दुष्ट रिपुओं के हाथ से मुक्त कराकर मन को ऊपर उठा सके हैं। भोग के प्रति आसक्ति कम हुई या नहीं। त्याग के अर्क द्वारा ही प्राणनाथ इस प्राण को शुद्ध कर देंगे।

'पथेर आलो' पत्रिका में धारावाहिक रूप से 'कृष्णप्रेम की जीवनी' प्रकाशित हुई थी। उसमें पढ़ा था कि कृष्णप्रेम पाश्चात्य देशवासी होने पर भी अपनी गुरुमाता यशोदामाई के वैष्णव आचार विचारों का पूरी तरह से पालन करते थे। एक बार उनके एक मित्र ने परिहास करते हुए उनसे कहा था कि आपने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पढ़ते समय अनेक बार गोमांस खाया था तो अब ये सब नियम, आचार-विचार क्यों मानते हैं? इस पर कृष्णप्रेम ने कहा – "इस युग में व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के सारे संयम और नियंत्रण तो खिड़की से बाहर फेंक दिए जाते हैं। इसलिए मेरे विचार से अपने ऊपर संयम का थोड़ा बहुत बन्धन रखना अच्छा होता है। इसके अतिरिक्त मेरे से पहले जो इस पथ पर गए हैं वे अपने लक्ष्य स्थल तक पहुँच गए हैं। इसीलिए मेरे जैसे साधारण व्यक्ति द्वारा यह कहना कि "मैं ऐसा करूँगा, वैसा नहीं करूँगा। इस नियम का पालन करूँगा वह नियन नहीं मानूंगा, उचित नहीं लगता है।" इसीलिए मैं इस पथ के सभी नियमों को मानकर चलता हूँ।

श्री अरविन्द जी ने उनके विषय में कहा है कि – "यदि अत्यधिक विचार, विश्लेषण एवं संशय की बाधा से मुक्त रहा जाए तो सत्य की उपलब्धि का पथ कभी भी लंबा नहीं हो सकता और साधना के पथ पर चक्कर भी नहीं काटने पड़ते। कृष्णप्रेम की मैं अत्यधिक प्रशंसा करता हूँ जिन्होंने इतनी सहजता से सारी बाधाओं का अतिक्रमण कर लिया।"

भक्त तथा शिष्य के रूप में स्वाभाविक समर्पण एवं त्याग के द्वारा कृष्णप्रेम ने जो सफलता प्राप्त की थी उसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे स्वामी जी (स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती) को मिल गया था। स्वामी जी के मुख से ही सुना था कि एक बार ढोल बजाकर कीर्तन करते-करते वे बेहोश हो गए थे और एक बार कीर्तन सुनते-सुनते वे भाव समाधि में चले गए थे। कृष्णप्रेम मध्यमा का सेतु पार करके पश्यन्ती अवस्था में चले जाते थे। श्रुति में कहा गया है – 'त्यागेनैकेह मृतमश्नूते।' कृष्णप्रेम जैसे महात्मा अपने जीवन का उदाहरण दे गए हैं कि अमृतत्व प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय त्याग है।

व्याहरण मामनुस्मरण *

हम साधारणतः मंत्रों की बार-बार आवृत्ति करने को जप कहते हैं। परन्तु जपसूत्रम में विभिन्न उदाहरणों द्वारा यह बताया गया है कि व्याहरण रीति से मंत्र का उच्चारण करना ही जप कहलाता है। अब प्रश्न उठता है कि व्याहरण किसे कहते हैं। व्याहरण का शाब्दिक अर्थ होता है – वि + आहरण अर्थात विशेषरूप से आहरण।

जप की इस पद्धति को अपनाने के लिए उसके व्यावहारिक पक्ष को समझना आवश्यक है। मान लें कि हम एक माला गूँथने बैठे हैं। कुछ फूल लिए परन्तु फूल बिखरे पड़े हैं, व्यवस्थित नहीं है तो माला नहीं बन सकती। एक-एक फूल लेकर सूई से पिरोना पड़ता है, पिरोने के पश्चात उसमें गाँठ बाँधनी पड़ती है। तब माला तैयार होती है। उसी प्रकार जप के अक्षर कला हैं, उसका धागा नाद है और गाँठ ही बिन्दु है। बिन्दु से निकलकर विचित्र कलाओं का वितान बनता है और कलाएं संपुटित होकर बिन्दु में विलीन हो जाती हैं। किसी भी बीजमंत्र या प्रणव का जाप करने वाले को नाद, बिन्दु एवं कला के संबंध में स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए। सूर्य का उदाहरण में – पूर्व दिशा से उदीयमान सूर्य अर्थात बिन्दु से नाद का उत्थान, जो शक्ति का अशेष भंडार है, मध्य गगन में आकर उज्ज्वल आलोक का कलावितान फैलाता है और फिर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर जाता है। अंधेरी रात्रि में कुछ समय तक विश्राम करने के पश्चात अगले दिन फिर अपनी समस्त शक्ति अर्थात प्रकाशपुंज लेकर पुनः नया अरुणोदय होता है। हमारे शरीर का उदाहरण भी लिया जा सकता है। वाक्, मन एवं प्राण ये तीनों त्रिपुटी एकत्रित होने पर व्याहरण कहलाता है। वाक् जो ध्वनि उच्चारण करता है वह यदि शुद्ध रूप से उच्चारित हो तो मन उसका साथी होता है तथा प्राण या श्वास उसका सहायक होता है। अर्थात वाक् का छन्द प्राण के छन्द के साथ अन्वित होना चाहिए एवं मन स्वभावतः उसके साथ युक्त होना चाहिए।

शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय के बीच अभिन्न संबंध होता है। अग्नि का बीज 'रंग' ठीक प्रकार से उच्चारित होने पर अग्नि प्रज्वलित हो सकती है और उसके संपर्क में शुद्ध प्रत्यय अथवा उसके स्वरूप के संबंध में वास्तविक ज्ञान उद्भासित हो सकता है। मंत्र के शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय के बीच गहरा संबंध स्थापित होने पर उसे 'समर्थ मंत्र' कहा जाता है। परन्तु अधिकांशतः हम शब्द रूप में जो मंत्र उच्चारित करते हैं उसका अर्थ कहाँ रहता है, इसकी जानकारी नहीं होती है तथा उसके संबंध में प्रत्यय भी काल्पनिक एवं जड़ होता है। मंत्र को समर्थ करने के लिए व्याहरण की आवश्यकता होती है। केवल जप के लिए ही नहीं, अपितु जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए व्याहरण आवश्यक होता है।

हम अपने जीवन में निर्धारित चुना हुआ कार्य ही करते हैं। इस विराट विश्व में रूप, रस,

---

** प्रवर्तक पत्रिका 1377 के आषाढ़ अंक में प्रकाशित*

गन्ध, शब्द एवं स्पर्श का भण्डार भरा हुआ है लेकिन हम तो अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए उसका कुछ सामान्य अंश मात्र ही ग्रहण कर पाते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार सब कुछ का अल्प अंश ग्रहण करता है बाकी को छाँट कर अलग कर देता है। मनुष्य की अपनी-अपनी आवश्यकताएं भी अलग-अलग प्रकार की होती हैं और उनको देखने की दृष्टि भी भिन्न-भिन्न होती है। एक वृक्ष का उदाहरण लें। सामान्य व्यक्ति वृक्ष को जिस दृष्टि से देखता है एक कवि, दार्शनिक या साधक की दृष्टि उससे भिन्न होती है। कोई उस वृक्ष को विराट विश्व के प्रतिरूप के समान देखता है तो कोई उसमें ही पूर्ण ब्रह्माण्ड का दर्शन करता है। प्रत्येक वस्तु के पूरे रहस्य को जानने की कोशिश करने पर दिग्भ्रमित होने की संभावना बनी रहती है। दार्शनिक व्यक्ति शिशिर के एक बिन्दु में जगत का दर्शन करता है परन्तु मेरी दृष्टि में वह शिशिर बिन्दु एक जलकण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। इसका कारण होता है दोनों की दृष्टियों की सामर्थ्य में अन्तर। उनकी दृष्टि उस सामर्थ्य को प्राप्त कर चुकी होती है जहाँ से वे पूरे जगत को ही प्रत्यक्ष देख पाते हैं। इसीलिए एक बिंदु शिशिर में जो है वही धूल के एक कण में भी है। सर के ऊपर फैले शांत, अनंत आकाश को जिस दृष्टि से देखते हैं उसी दृष्टि से उद्वेलित सुनील सागर को भी। हम पृथ्वी की किसी भी मूर्ति को स्थायी, सीमित मूर्ति के रूप में नहीं देख पाते हैं क्योंकि हमारे मन रूपी कैमरे में जिस वस्तु की जैसी छवि उतरती है, हम उसे उसी रूप में देख पाते हैं। वह छवि स्वतः परिवर्तनशील होती है। एक बाल्टी गर्म पानी में हाथ डालने पर जो अनुभूति होती है, एक बाल्टी ठण्डे पानी में हाथ डालने के बाद पुनः उस गर्म पानी की बाल्टी में हाथ डालें तो पानी ज्यादा गर्म लगता है। फिर अधिक गर्म पानी में हाथ डालने के बाद उस बाल्टी में हाथ डालने पर उतना गर्म नहीं प्रतीत होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हम अपने मन की अवस्था के अनुरूप ही सब वस्तुओं को देखते हैं। इस विश्व का सब कुछ परिवर्तनशील होता है। परन्तु उसमें से ही जो सच है, सही है उसकी उपलब्धि करना ही मानव जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

प्राण का स्वाभाविक धर्म होता है बड़े होने की कामना। उसके सम्मुख जो भी बाधा आती है उसे अतिक्रम करके क्रमशः वह बड़ा और बड़ा होना चाहता है। सर्वदा आर्त स्वर में प्राण पुकारता रहता है – मुझे किसी सीमा में बाँधकर मत रखो, बड़ा, और भी बड़ा होने दो। जपसूत्रम में कहा गया है – "सागर की साध होती है वह मेघ की झड़ी बने और झड़ी की साध होती है कि वह सागर बने।" हमारे देहरूपी यंत्र में अनवरत झरने की तरह जो प्राणधारा बह रही है वह जब तक सागर से नहीं मिलती उसका मृत्युभय समाप्त नहीं होता। कभी किसी मरूभूमि में वह धारा लुप्त हो जाती है, कभी वाष्प बनकर ऊपर उठ जाती है और फिर जल बिन्दु बनकर पृथ्वी के वक्ष पर झर पड़ती है और झरना बनकर बहती है। लेकिन इस तरह से बार-बार उठने-गिरने और इस अस्थिरता से मुक्ति पाने के लिए प्राण व्याकुल होकर कहता है – मृत्योर्मामृतं गमय।

इस अमृत लाभ के लिए उसे जिस सामर्थ्य की आवश्यकता होती है, विषमछन्द के

कारण पतित होकर वह सामर्थ्य खो चुका है। उसकी उस प्राणशक्ति का अनवरत अपक्षय हो रहा है। इस अपक्षय के निवारण एवं प्राणशक्ति को ऊर्जा से भरकर उसे स्वयं को सामर्थ्य की एक ऐसी भूमि पर आरूढ़ करना होगा जहाँ से वह अपने ऋतछन्द पर या स्वाच्छन्द पर वापस लौट सके। ऋतछन्द का तात्पर्य है बाधाओं का अतिक्रमण करके सीधे पथ पर चलना।

प्रतिदिन हम अपनी रुचि, प्रकृति एवं प्रयोजन के अनुसार हर चीज के विशेष-विशेष अंश को ग्रहण करते रहते हैं। परन्तु जीवन में अभ्युदय लाने के लिए केवल 'सामान्यरूप' से क्या मिल सकता है। उसके लिए विशेष रूप से आहरण करने की साधना आवश्यक होती है, तभी व्याहरण होता है। इस हेतु विशेष कौशल का प्रयोजन होता है। "कौशल तीन प्रकार का होता है जिसे 'त्रयी' कहते हैं अर्थात मंत्र, यंत्र एवं तंत्र। इनके भी तीन रूप होते हैं –शक्ति, आकृति एवं क्रिया" (जपसूत्रम)। अपनी किसी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए सबसे पहले आवश्यकता होती है – विशेष शक्ति की, फिर अभीष्ट वस्तु के आकार के संबंध में स्पष्ट धारणा एवं वस्तु प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयोग विधि के संबंध में ज्ञान। ये तीनों जब तक एक विशेष स्तर तक उन्नत नहीं होते तब तक कौशल सिद्ध नहीं होता है। मंत्र तो अपने आप में पूर्ण शक्ति संपन्न तथा असंभव को भी संभव बनाने में कुशल होता है। किंतु हमारे इस मंत्र में मंत्रोद्वार एवं मंत्रचैतन्य होना जरूरी है। जब तक मंत्र समर्थ नहीं होता तब तक हम उसे जड़ ध्वनि मात्र ही पाते हैं। मंत्र को समर्थ बनाने के लिए व्याहरण आवश्यक होता है। मंत्र, यंत्र एवं तंत्र इन तीनों का शोधन, संस्कार एवं चैतन्य प्राप्ति व्याहरण सहित जप द्वारा ही होती है। विशाल पीपल या वट वृक्ष का बीज एक रत्ती के समान होता है, परन्तु उस बीज के भीतर एक विशाल वृक्ष का अस्तित्व समाहित रहता है। उस वृहद वृक्ष को प्रकाश में लाने का प्रयास बीज के भीतर निरन्तर चलता रहता है। जप के शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय की शुद्ध मग्नवृत्ति को ऊर्ध्व दिशा में अभिव्यक्त तथा भासमान करना व्याहृति कहलाता है।

व्याहृति की चर्चा करना मूलतः छन्द की चर्चा करना है। इस छन्द को क्रमशः पांच पर्वों में बांटा गया है – परिणयी, अन्वयी, समन्वयी, महासमन्वयी तथा परम समन्वयी। छन्द के बिना किसी भी वस्तु के सम्यक रूप को प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। तुम्हारे भीतर विषमछन्द है किन्तु वह लगातार विषम ही नहीं रहता। अमृत भी तो थोड़ा सा प्राप्त होता है। ऐसा न हो तो प्राण ही नहीं रहे। हालांकि उसकी गति एवं संस्कार के बीच विरोध भी काफी रहता है। किंतु इस विरोध में ही मिलन के सूत्र को पकड़कर सुषमछन्द को खोजकर उनका परिणय कराने पर अभीष्ट सिद्धि का पथ मिल सकता है। इस प्रकार साधक की प्रत्येक वृत्ति के साथ उसकी परागवृत्ति का परिणय संघटित होता है। इसे ही परिणयी छन्द कहते हैं। इसके बाद आती है अन्वयी छन्द की बारी। अन्वयी छन्द का लक्ष्य होता है प्रतिकूलधर्मी को अनुकूलधर्मी बनाकर अमृत में रूपान्तरित करना। विष एवं अमृत तुम्हारे भीतर मिले रहते हैं, उसके मिलन सूत्र को आधार बनाकर उनका परिणय भी होता है किन्तु आसुरीवृत्ति की मात्रा अधिक रहती है और यह वृत्ति शक्ति में प्रबल होती है, इसीलिए कौशल द्वारा तुम्हें उसे अपना अनुगत बनाना होगा। व्याहृति इस कार्य को करता है।

सभी कार्यों के लिए तीन गुणों का मेल होना आवश्यक होता है। ये तीन गुण हैं – इच्छा, ज्ञान और शक्ति। जिस वस्तु को पाना चाहते हैं उस वस्तु के लिए पहले सम्यक इच्छा या आत्मकृपा जरूरी है। उसके पश्चात वस्तु के संबंध में स्पष्ट धारणा एवं वस्तु प्राप्ति की प्रक्रिया के संबंध में ज्ञान होना चाहिए। केवल इतना ही पर्याप्त नहीं होता – शक्ति को 'समर्थ' बनाना होता है। साधारण शक्ति से जीवन महान नहीं हो सकता है। इसीलिए जपसूत्रम में जिसे 'कषाय' 'आमय' आदि कहा गया है उससे ऊपर उठने के लिए मन्थन आवश्यक होता है। इस मन्थन दण्ड की स्थापना ही परिणयी छन्द है। इसके पश्चात आरम्भ होती है इसकी क्रिया। इस मन्थन दण्ड को धारण करते हैं श्रीगुरु। अतः तुम्हारे भीतर जो विरोध, बाधा आदि है उसे मन्थनदण्ड के निकट ले आओ। तुम्हारे भीतर की आसुरी वृत्ति जब अपने स्वाभाविक वैर को त्यागकर मित्रवत व्यवहार करने लगती है तब तुम्हारे भीतर अन्वयीछन्द की प्रतिष्ठा होती है। परन्तु इस समय भी सुधीकलश के कक्ष में लक्ष्मी का आगमन नहीं हुआ है। तुम्हें पूर्ण उपलब्धि नहीं हुई है। यह तो केवल सुर में सुर मिला है। इसे ही श्रद्धा का प्रथम उन्मेष कहते हैं। इसके पश्चात आता है समन्वयीछन्द। यही सच्ची श्रद्धा होती है। जप में अन्वयीछन्द में केवल ध्वनि का छन्द श्रीगुरु से सुने ध्वनि के साथ मिलकर सुषमछन्द के रूप में परिणत होता है। समन्वयीछन्द में तुम्हारे संपूर्ण यंत्र में उस ध्वनि के अनुरूप एक सौषम्य प्रतिष्ठित होता है। अर्थात तुम तथा वह एक हो जाते हो। उस अवस्था में तुम्हारे भावों में, कथन में और कार्य में एक ही छन्द स्थापित हो जाता है। ऐक्यतान की सृष्टि होती है। जीवन तथा साधना में इस ऐक्यतान को मिलाना आवश्यक होता है। यह जब तक नहीं मिलता भय समाप्त नहीं होता।

संभव है उक्त अवस्था कुछ दिनों तक सुरीली बनी रही, किंतु यह सुर जब तक समूचे यंत्र में विस्तारित नहीं होता, गुप्त कक्ष में बैठे किसी असुर को तुम्हारे सुरीले जीवन में बेसुरा झंकार निर्मित करने में कितने दिन लगेंगे!

इसके बाद आती है महासमन्वयी एवं परमसमन्वयी छन्द के पर्व की बात। तुम्हारे समग्र यंत्र में सुर, छन्द आया किन्तु तुम्हारे चतुर्दिक 'इस संसार में जो कुछ चल रहा है वह चलता रहे मुझे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता' यह कहने से तो नहीं चलेगा। पूरे विश्व के छन्द के साथ अपने छन्द का अन्वय एवं तालमेल नहीं होने तक शान्ति नहीं मिलती। सभी के कल्याण में ही अपना कल्याण होता है। इसीलिए तो हमें यह पाठ करना पड़ता है – "सर्वमंगल मांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।" जपसूत्रकार स्वामी जी की भाषा में – "जहाँ जो प्राणी सांस ले रहा है, हे शान्तिमय तुम सभी को शान्ति दो।"

नदी अपने ही छन्द से बहती रहती है। ऊपर से होने वाली वर्षा के जल से अपनी सत्ता को अपने प्राचुर्य से भरपूर करने के बाद जब वह सागर में आत्मसमर्पण करने जाती है तो एक असहनीय व्याकुलता से ग्रस्त रहती है, क्योंकि जब तक सागर के साथ उसका योग स्थापित नहीं होता तब तक उसके प्राणों का चिरंतन अव्यय नहीं हो पाता। यह विराट आकाश, वायु,

प्रकृति – सभी प्राण की दृष्टि से अपने अलग-अलग संभारों से पूर्ण होते हुए भी जब तक अपने मंत्र से अन्वित, ग्रथित और एकीभूत नहीं होते तब तक त्राण नहीं होता। 'महा' ही 'परम' में जाकर मिलता है। परमब्रह्म का छन्द ही परम समन्वयी छन्द है। वे ही महासमन्वयी रूप में विश्वछन्द या विराट छन्द हैं।

पूरी सृष्टि के मूल की बात इस व्याहृति जपसूत्र की भाषा में इस प्रकार है – "जहां जितनी प्रकाशकुंठ मूक वेदना है वही कुंठाहीन है, वाणी इसी आदिम भाषानिर्देशक व्याहृति की सहायता से सुर और छन्द के साथ मुखर हो उठती है। 'अयं' या 'इस' रूप में प्रकाशित प्रेक्षालोक में रहकर कौन समझ सकता है कि उसे इस सजग आलोक में जीवन्त प्राणवायु के स्पर्श से उद्‌भासित होने के लिए मात्र थोड़ी सी संभावना लेकर कठोरतम पाषाणों के स्तरों को भंग करते हुए एक-एक को पार करना पड़ा है। नदी जब अपने तल एवं तट को खोकर नदीनाथ के महोच्छ्वास में मिलती है, उस समय क्या किसी के मन में आता है कि उसने निभृत तुंग गिरि कंदरा के कारागाह में जो तुषार निर्झर के मृदुल, मंजुल, सचकित स्वप्न देखे थे वे किस प्रकार टूट गए। यही कहानी कंस के कारागाह में भादो महीने में गुप्त रूप से स्वयं ब्रजसुंदर के शाश्वत जन्म लेने की कहानी है। यही कहानी इस निभृत विल्लरीवृन्त पर नगण्य पुष्पकलिकाओं ने प्रस्फुटित होकर लजाती हुई सुनाई है। अतः इस आदिम व्याहृति का सर्वत्र एवं सर्वतोभावेन अनुसंधान और अनुसरण करना होगा।"

बहुत बार हम सोचते हैं कि गुरु ने जो मंत्र दिया है वह तो पूर्ण शक्तिसम्पन्न महामंत्र है, अतः भाव के साथ उसी मंत्र का जप क्यों नहीं करते रहें। इतनी रीतियों-पद्धतियों के नागपाश में बाँधकर कर्म को और भी यांत्रिक बना दिया जाता है। इससे तो भाव नष्ट हो जाते हैं। किंतु भाव का ही तो अभाव है! भाव यदि शुद्ध रहें तो रीतियों-पद्धतियों को क्यों साधना पड़ेगा। वह तो अपने आप ही चला आएगा। जपसूत्रम की भाषा में इसे और भी स्पष्ट रूप से समझा जाए – "सोचकर देखो, जप, ध्यान आदि क्यों करते हो? उसका क्या लक्ष्य है? और उदय-विलय के चक्र का समाचरण क्यों करते हो? भावनिष्ठा सहित यदि दशधा चक्र का समाचरण करो तो 'भगवान' फिर 'भूत' नहीं रह जाते हैं। प्रारम्भ में स्पन्द-साधना होती है। यह मुख्यतः यांत्रिक कर्म नहीं होता, क्योंकि साधन यंत्र ही मूलतः स्थूल यंत्र नहीं है। तन, मन, धन, जन इन चार 'न' को लेकर 'नस्यात्' बने हुए हैं। इन चारों को यदि एक साथ नहीं मिला सकते तो प्रथम दोनों को ही मिलाकर प्रयत्न करके सुर बाँधना चाहिए। इन दोनों का साहित्य एवं संगति किससे होता है यही पहले जानना होगा। गाने के साथ जैसे बजाना जुड़ा होता है, उसी प्रकार तन के साथ 'ताल' और मन के साथ 'सुर' का मिलन होना चाहिए। तन और मन दोनों की सौम्य संगति होने पर – चन्दमा। चंद्रमादैवत तन-मन दोनों को अपनी-अपनी नेमी मर्यादाओं में सौम्यावस्था में रखते हैं। तन मन के ऊपर लापरवाह होकर शासन नहीं करता है और मन भी तन पर स्वेच्छाचार नहीं करता है। तन सब प्रकार से उसकी शिक्षा लेता है और मन भी

उससे मर्मी बनता है। तन की शिक्षा से यहाँ तात्पर्य है - श्वासनाड़ीस्पन्द, इसका छन्दोगत्व, ब्लड सुगर, ब्लड प्रेशर इत्यादि का सौम्य। इन सब को नियंत्रण में रखना होगा। चन्द्रमादैवत तन-मन के स्पन्द को स्वाधिकार में लेने से यह सब कुछ होना स्वाभाविक होता है। तन यदि ताल में (छन्द में) आता है तो मन को भी छन्द में बाँध लेता है। तन के विषम स्पन्दन से (इन्द्रिय, स्नायु, मस्तिष्क) मन तो केवल स्पन्दित होता है पर तन के सुषम स्पन्दन से मन में स्पन्दन न हो, ऐसा क्या कभी हो सकता है? जिस प्रकार गाने-बजाने आदि में व्याहृति का अनादर नहीं किया जाता है, उसी प्रकार जपादि में व्याहरण को यांत्रिक कहकर अनादर नहीं करना चाहिए। भाव का 'तन' नहीं हो तो भाव का 'मन' नहीं मिलता है।"

छन्द की इस विस्तृत तालिका को जानकर हताश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। छन्द का अर्थ है आच्छादन करना। छन्द का कार्य है सुरवृत्ति को आच्छादित करके उसकी रक्षा करना। कर्म को उपासना के रूप में प्राप्त करना होता है। उपासना का अर्थ होता है - - समीप में आसीन अर्थात निकट बैठना। किसके निकट? श्री गुरु के निकट। तभी तो श्रद्धा होती है, कर्म समर्थ होता है। श्रद्धा उत्पन्न करने के कौशल को विद्या कहते हैं। इसकी जरूरत प्रारम्भ से ही होती है और सबके अन्त में जरूरत होती है तत्व रहस्य के सम्बन्ध में सम्यक रूप से धारणा एवं ध्यान करने की अर्थात उपनिषद की। तुम्हारे सभी कर्मों, तुम्हारे सभी विरोधी, विसर्पी, प्रमार्थी संस्कारों का चूड़ामणि होना चाहिए छन्ददुलाल के आवाहन के लिए तुम्हारी व्याकुलता। यदि ऐसा होता है तो छन्ददुलाल की नूपुर-ध्वनि के छन्द में सभी विषछन्दों के स्वाभाविक विष के निर्गलित होने और मधुछन्द में रूपान्तरित होने में कितना समय लगेगा!

जप : मंत्र चैतन्य एवं शक्तिस्फुरण

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्। (गीता 8/13)

गीता में भगवान ने परमगति प्राप्ति के लिए जो शर्त रखी है उससे स्वाभाविक है कि मन जिज्ञासु हो उठता है कि व्याहरण की रीति क्या है और अनुस्मरण भी कौन सी पद्धति अपनाने से होता है।

व्याहरण एवं अनुस्मरण दोनों परस्पर अंगांगी भाव से जुड़े हैं। व्याहरण को हमने खंडित एवं संकुचित अर्थ में समझने की चेष्टा नहीं की है, क्योंकि व्याहरण का मूल तात्पर्य बहुत व्यापक होता है। शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय के बीच जब एक अविनाभाव सम्पर्क स्थापित होता है तो उसे 'समर्थ' मंत्र कहा जाता है। मंत्र को समर्थ रूप में उन्नत करने के लिए व्याहरण का प्रयोजन होता है। व्याहरण का अर्थ बताया गया है – विशेष रूप से आहरण अर्थात जप के समय वाक्, मन एवं प्राण तीनों जब एक साथ मिलकर त्रिपुटी बनते हैं तो वह व्याहरण कहलाता है। मंत्र के साथ वाक्, मन एवं प्राण जब एक साथ अन्वित होते हैं तो स्वच्छ मन के ऊपर जो प्रत्यय या स्मरण की प्रतिकृति उजागर होती है उसी को शायद गीता में अनुस्मरण कहा गया है। मंत्र उच्चारण करना केवल कंठ का व्यायाम नहीं है – शुद्ध भाव से उच्चारण करने पर वाक् एवं उसके साथ मन एवं प्राण उसके सहयोगी हो जाते हैं। अतएव शुद्ध व्याहरण जब व्याहरण में परिणत होकर हमें महासमन्वयी छन्द में पहुंचा देता है उस समय जो ध्रुवास्मृति प्राप्त होती है उससे अनोखी चीज और क्या हो सकती है?

व्याहरण (विशेष + आहरण) हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करते रहते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु विषम छन्द में जाकर क्या वस्तु की स्तब्धवृत्ति को अभिव्यक्ति कर पाते हैं? ओंकार स्वयं ब्रह्म का वाचक होता है। अतः ब्रह्म जिस प्रकार अपने सूक्ष्मतम सृष्टि में अणुप्रविष्ट हैं उनका वाक् रूप प्रणव भी उसी प्रकार सबमें समाहित रहता है एवं सभी बीजों के अन्तः में प्रणव की मात्रा सम्पुटित रहती है। एक अक्षर मात्र में विश्व के सारे रहस्य छिपे रहते हैं। केवल इतना ही नहीं उसकी यह मग्नवृत्ति ऊपर उठकर स्वरूप धारण करके हमारे इस सदैव क्षरभाव से युक्त मन, प्राण एवं चित्त को अक्षर में उन्नीत कर सकती है। किन्तु मंत्र को 'मन को तोड़ने वाला' होना पड़ेगा। ऐसा नहीं हुआ तो अनुस्मरण कैसे हो सकता है। यह स्मरण रखना होगा कि अनुस्मरण अनात्मवस्तु का आग्रही होता है एवं उसी में आसक्त रहना मन का कार्य नहीं होता। जिस मन का एकमात्र उपजीव्य रूप, रस, गन्ध, शब्द एवं स्पर्श होता है उसकी धारा को उलटे बिना न तो व्याहरण होता है और न ही अनुस्मरण।

साधारणतः पंचइन्द्रियों की गुलामी करते-करते मन बेचारा बेहाल रहता है, अतः बाध्य होकर प्राण को भी इन्द्रियों के लिए रसद की व्यवस्था करते-करते शेष हो जाना पड़ता है। परन्तु यह गुलामी करना भी तो 'यांत्रिक' नहीं है। इसके मूल में रस की प्यास होती है जिसके

लिए इतनी भागदौड़ मची है। लेकिन असल में तुम 'रस' या 'आनन्द' की खोज करने वाले हो, इस संबंध में तुम्हारी प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होते ही तुम्हारे संसार का चेहरा पलट जाएगा। उस 'रस' या 'आनन्द' का उत्स तुम्हारे अपने हृदय में ही है यह चेतना तुममें नहीं है इसीलिए अपने घर के नाचघर में होने वाले रसोल्लास को तुम नहीं देख पाते हो और घर के बाहर रस की खोज के लिए भागते फिरते हो। तुम्हारे अपने भण्डार के ऊपर एक प्रकार का मजबूत ढक्कन लगा हुआ है, जिसमें से तुम्हें बूंद-बूंद करके रस प्राप्त होता है जिससे तुम्हारी थोड़ी बहुत आवश्यकता की पूर्ति होती है परन्तु इससे तुम्हारी इच्छा की पूर्ति नहीं होती। इसका एक ही उपाय है। अपनी इस अल्प प्राप्ति को जमा करके अपने भण्डार का ढक्कन खोलने की शक्ति का अर्जन करना होगा। तुम अपनी उपलब्धि को यहां-वहां लापरवाह होकर, बेहिसाब खर्च कर रहे हो। इसीलिए अपने अन्तःस्थल में किसी के करुण क्रन्दन को सुन नहीं पा रहे हो। नृत्यसदन में जब तुम्हारा रहस्यमय वेदनाविधुर अपने मधुर स्वरों में तुम्हें पुकार रहा हो, उस रुदन को ढकने के लिए तुम जलसाघर की ओर दौड़े! जिसका अपना हृदय ही रो-रोकर बेहाल हो उसका रुदन क्या नर्तकी की घुंघरू की आवाज से ढक सकता है!

इसका मतलब हुआ कि हृदय के हाहाकार का कारण दो प्रकार की बाधाएं हैं – एक है आवरण और दूसरा विक्षेप। तुम्हारी अज्ञानता रूपी तुम्हारा आवरण तुम्हारे हृदय के अमृत भण्डार का पता नहीं लगने दे रहा है, उसे पहचानने नहीं दे रहा है। और दूसरी ओर तुम्हारे पास जो कुछ उपलब्ध है वह चारों तरफ व्यर्थ ही खर्च हो रहा है – यही है विक्षेप। एक है तम और दूसरा रज। इन विरोधी बाधाओं के साथ संघर्ष करके परेशानी ही होती है क्योंकि महा पराक्रमशाली असुर भी शक्ति एवं सामर्थ्य में कम नहीं होते। इसीलिए छन्द को आश्रय बनाकर धीरे-धीरे अग्रसर हो। प्रथम बाधा के साथ परिणयी छन्द को मिलाओ। तुम्हारा चित्त जो पराक्प्रवण हुआ है उसके मूल में क्या यह रस लिप्सा नहीं है? और उस भण्डार की चाबी तुम्हारी अपनी हृदयकंदरा में बंद है, अतः बाहर जिसे खोजते फिर रहे हो, तुम्हारी अंतःसत्ता भी तुम्हें वही देना चाह रही है। अतः मिलन का वही सूत्र पकड़कर उसके साथ परिणय करो। यही परिणयी छन्द है। मन में परिणय छन्द की ठीक प्रकार से स्थापना होने के बाद अन्वयीछन्द में विरोधी भाव क्रमशः अपना स्वाभाविक वैर त्याग देता है अर्थात जो आवरण तुम्हारे स्वरूप को जानने, पहचानने नहीं दे रहा है वह बिंध्यांचल की तरह उद्धत शिर नहीं है। इतने दिनों तक उसने बाह्य भोग एवं भोग की इच्छा में अपनी देह और मन को पत्थर की तरह अनगढ़ बना रखा था, आज भी उसकी जाड्यता भले ही समाप्त नहीं हुई हो पर अपना सिर झुकाकर उसने अपने भाव के खान के बंद दरवाजे के सामने खड़ा होकर अपनी जाड्यता को लुटा दिया है। यही है अन्वयीछन्द का आरम्भ। अन्वयीछन्द में मानो प्रत्येक प्रवणता सर्वांगरूप से संचारित नहीं हुआ, अर्थात वह देशकाल के निमित्ताधीन होती है। समन्वयी छन्द में विशेष किसी स्थान या समय की अपेक्षा नहीं रहती है इसीलिए चित्त की प्रत्येक प्रवणता स्थायी होती है। उसी छन्द में जब आकाश में, हवा में समता की व्याप्ति का अनुभव होता है तो उसे ही महासमन्वयी छन्द कहते हैं। उस अवस्था में वह छन्द अन्तर के किसी गोपन कक्ष में निर्वासित नहीं रहता, अपितु हृदय कुंज से निकलने वाली अमृतधारा बाह्य विश्व में शतधारा बनकर बहती है। इस अवस्था

में साधक अपनी सत्ता के साथ, बाह्य विश्व की प्रत्येक वस्तु के साथ एक मधुर समन्वय देखता है। चित्त की बाधा दूर करने के लिए व्याहरण रीति से जप के द्वारा छन्दों के क्रमों को एक-एक करके आरोहण किया जाता है।

आरम्भ में परिणयी छन्द में चित्त का विरोधी भाव ही प्रबल रहता है जिसकी वजह से मन बिलकुल स्थिर नहीं होता। व्याहरण रीति जितनी स्वच्छन्द होती है मन उतना ही आकृष्ट होता है। उस समय हममें से बहुत लोग अपने इष्ट के बारे में सोचने में व्यस्त रहते हैं। किन्तु नित्य नैमित्तिक कर्मों में लीन मन में इष्ट चिन्ता काल्पनिक लगती है इसलिए वह जड़ चिन्ता होती है। उस समय चित्त में जो मूर्ति उभरती है वह या तो पूजा घर में रखी कोई ऐसी मूर्ति होती है जिसे प्रतिदिन देखा जाता है अथवा कोई ऐसी मूर्ति जो कहीं देखी है और इन नेत्रों को अत्यन्त मनोरम दिखाई देती हो। मनुष्य जो जप, ध्यान आदि करता है उसके पीछे उसका लक्ष्य होता है कि किस प्रकार वह अपनी मायिक अनृत कल्पना को ऋत की ओर अभिमुख करके ब्रह्म के सत्य की कल्पना में पर्यवसित करे। मंत्र तो केवल कुछ अक्षर मात्र नहीं होता। उसका प्रत्येक अक्षर चैतन्यपूर्ण होता है। उदाहरणस्वरूप महाकाली का बीजमंत्र 'क्रीं' में – 'क, र, ई एवं ँ ' ये चार वर्ण होते हैं। सभी व्यजनों के प्रारम्भ में रहता है 'क' वर्ण। यह 'क' वर्ण निष्पन्द, निस्तरंग अधिष्ठान में आदिम परिस्पन्द या तरंगोत्थान की सूचना देता है। जो अधिष्ठान मात्र था उसने अपने को शक्ति और शक्तिमान के मिथुन रूप में देखा। जिस मूल अनिवर्चनीय तत्व से इस जगत के मातृत्व की कल्पना करना ही सम्भव नहीं था, उसी मूल तत्व ने अपने आपको जगन्माता आद्यशक्ति के रूप में प्रकट किया। 'क' वर्ण के द्वारा यही परम विस्मय ध्वनित होता है। अब जो जगत का आदि 'कारण' है वह स्वयं को 'करण' रूप में अभिव्यक्त करेगा। जो माता हैं वे 'मात्रा' बन जाएंगी। जिसके द्वारा सब कुछ का मान या माप निरूपित होता है उसे 'मात्रा' – Measure Principle कहते हैं। इसीलिए जगत की सत्ता और शक्ति के संबंध में जो आधात्री (Matrix) है, वह स्वयं को माप (Measure) के रूप में विकसित (Evolve) कर लेती है। यह मौलिक बात जिस वर्ण के द्वारा जानी जाती है वह है 'र' वर्ण। श्रुति में जिस ब्रह्म के ईक्षण की बात कही गई है उस ईक्षण के लिए आवश्यक है इस 'ई' कार का आश्रय करना। जो जगत की माता है वह महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी एवं महासरस्वती – इन चतुर्व्यूह रूपों का परिग्रह करती है। एक मूल ईक्षण के ये चार भाव हैं। अब आता है चन्द्रबिन्दु। यह किस बात का द्योतक है? वैचित्र्य से भरे इस अभिव्यक्त विश्व का विस्तार एवं संकुचन ये दोनों ही इस चन्द्रबिन्दु द्वारा द्योतित होते हैं। एक तरफ विश्व का अपने संपूर्ण विकास की ओर अग्रसर होना और दूसरी तरफ इसकी एकांत संकुचन या घनीभाव स्वरूप के प्रति प्रवणता। बीज केवल यही कहता है कि मुझे अंकुरादि क्रम से परिपूर्ण पादप बनने दो। वह यह भी कहता है कि मेरी मुकुल मंजरी को प्रस्फुटित होने दो ताकि मैं पुष्पित एवं फलयुक्त होकर स्वयं को फिर से नई सृष्टि के बीज रूप में देख पाऊं। विकास एवं संकुचन का यह अपूर्व अभिनय हम चन्द्रबिन्दु के अवयव में देख पाते हैं। अतः यह 'क्रीं' बीजमंत्र किसका बीजमंत्र है? जो जगत का मूल अधिष्ठान भी हैं और स्वयं को जगत-जननी के रूप में अभिव्यक्त भी करती हैं, और जो स्वयं जगत की माता होकर निखिल

मात्रा रूप में अपने आपको प्रतिभासित भी करती हैं एवं उसी मात्रा की सहायता से विश्व को वैचित्र्यपूर्ण विविध रूपों में ईक्षण करती हैं एवं जो अनु या विराट सभी को अपने संपूर्ण विकास तथा संगोपन के बीच लीलायित करती हैं। उसी आद्यशक्ति का बीज होता है 'क्रीं'।

अतः हमने देखा कि एक बीजमंत्र में कितने रहस्य छिपे हुए हैं। इसलिए मंत्र के इसी रहस्य को ध्यान में लाना ही सही रूप में इष्ट चिन्ता कहलाती है। हमारा साधारण विश्वबोध रज और तम के द्वारा आवृत्त एवं क्षिप्त-विक्षिप्त होता है। अतएव बोध के उस स्तर पर विश्व के बारे में जो धारणा होती है वह केवल आभासिक होती है। हम अपनी कारबारी बुद्धि से विश्व का जो विवरण देते हैं वह वस्तुतः सही विश्व का आभासमात्र होता है। हम जप, ध्यान आदि के द्वारा इस आभास के घेरे से निकलकर एक के बाद एक सोपान को पार करते हुए सर्वोच्च स्तर पर विद्यमान पूर्णता की ओर बढ़ सकते हैं।

हम साधारणतः अपनी अनुभूति को बुद्धि द्वारा छिटपुट रूप में देखते हैं। समग्रता की खबर नहीं रखते हैं। प्रत्येक जीव के भीतर ईश्वर का अंश रहता है, इस बात को हम भूल जाते हैं। जरा सोचकर देखें कि जब हम कोई सुन्दर दृश्य देखते हैं या मधुर गीत सुनते हैं तो विमुग्ध और स्तब्ध हो जाते हैं। उस समय एक क्षण के लिए अपने 'अहं' भाव को भूल जाते हैं और उस दृश्य या मधुर गीत या सुर में अपने आपको लीन कर देते हैं। उसके बाद जब उसका वर्णन करता होता है तब 'अहं' जाग उठता है और कहते हैं "हमने अमुक वस्तु देखी या सुनी और मुग्ध हो गए।" अतः अपने विश्व को हम जिस रूप में पाते हैं, उसे क्या 'सत्य' कहा जा सकता है। यदि उसे मिथ्या कहें तो भी शायद अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि वह तो नितान्त ही आभासिक विश्व होता है। इस आभास के नागपाश से हम कैसे मुक्त होकर सत्य की ओर अग्रसर होंगे वही हमारे मनुष्यत्व का धर्म होगा। आभास से तात्पर्य यहाँ अनुभूति का एक अखण्ड और संपूर्ण रूप होता है। व्यक्ति के जीवन में जिसे 'भान' कहा जाता है उसी की पराकाष्ठा है 'भानरूपी ब्रह्म' – वहीं जाकर बोध नित्यपूर्ण होता है।

भान की भूमि से जब कहने-सुनने की भूमि पर पहुँचा जाता है अर्थात यह मेरी अनुभूति है और यही मेरे अनुभव की वस्तु है – यही से अहम् और इदम का भेद शुरू होता है। इसे कहते हैं 'भास'। और भास भी जहाँ आवृत्त एवं आक्षिप्त रूप से प्रकाशित होता है उसे कहते हैं 'आभास'। जीवन में अभ्युदय प्राप्त करने के लिए इस आभास की सीमा को पार करके केंद्रीय सत्ता की शरण में जाना होता है। अर्थात आवृत्ति एवं आक्षेप से चित्त का सही-सही आहरण नहीं होने पर, आभास के घेरे से बाहर निकलकर प्रतिभास तक न पहुँचने पर सच्चा व्याहरण नहीं होता है। और विश्वबोध जब तक आभासिक होता है तब तक मन से जो मनन किया जाए वह काल्पनिक होता है और इस प्रकार वह जड़ अर्थात मिथ्या होता है। आभास की बेड़ी से मुक्त नहीं होने पर स्वतःसिद्ध एवं सत्य की वह धारणा दृढ़ नहीं होती, जिस धारणा से शरण, अनुस्मरण एवं ध्रुवास्मृति की क्रमिक रूप से प्राप्ति होती है।

द्वैत क्या है और क्यों होता है?

"ब्रह्म समूची सृष्टि के मूल में हैं और हर चीज में वे स्वयं बिन्दु रूप में समाए हुए हैं" यह बात सुनकर विस्मय होता है। जो स्वयं पूर्ण हैं उनकी सृष्टि में अपूर्णता क्यों आती है? सुर एवं असुर का यह द्वन्द्व ही क्यों होता है? जो स्वयं पूर्णकाम हैं उनके भीतर एक से अनेक होने की प्रेरणा एवं कामना जगती है (एकोहम् बहुस्याम्)। केवल इतना ही नहीं उसके भीतर वे बिन्दु रूप में प्रविष्ट हुए अर्थात अति गोपनीय रूप से धनीभूत रूप धारण किया है। यदि वे अपने द्वारा रचित प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट ही हुए हैं तो सुर और असुर का भेद क्यों है? किंतु अपनी ही इच्छा से जीव के भीतर प्रविष्ट होकर भी विष्णुमाया से उसे आच्छन्न, अभिभूत करके रखा है। उसके चारों तरफ एक सीमा रेखा खींची रहती है। इसी के फलस्वरूप वह स्वयं असीम की सन्तान होकर भी, जो असीम है, ईश्वर है उसकी पकड़ से बहुत दूर है। मैं तो अदरक का व्यापारी हूँ जहाज की चर्चा करना अनधिकार चेष्टा है। फिर भी जिस चैतन्य के द्वारा मैं सांसारिक कारबार करके अदरक एवं मिर्च में अन्तर कर पाता हूँ वह भी तो इसी चैतन्यस्वरूप का तुच्छ दान ही है। मूल चैतन्य के भण्डार के चारों तरफ एक सख्त आवरण लगा रखा है। भण्डारगृह में अदिति हैं वहाँ खण्ड भी नहीं है छिद्र भी नहीं है। मेरी आवश्यकता चूँकि अल्प है, उसी के अनुरूप आरम्भ से ही उतना ही देने की व्यवस्था भी रहती है। जिसका प्रयोजन जितना अधिक होता है, उसको दिया भी उतना ही जाता है। हमारा कारबार तो अल्प को लेकर, खण्ड को लेकर है इसलिए पूर्ण ईश को लेकर मैं क्या करूँगा? अपना कारबार कैसे चलाऊँगा? छोटा सा भाग लेकर जीवन के मेले में पसरा जमा कर बैठा हूँ। 2-4 पैसे का कारबार है ज्यादा से ज्यादा 10-20 पैसे मिलने से ही मैं खुश हो जाऊँगा। घड़ा भरकर मोहर अथवा हीरे जवाहरात लेकर इस हाट में बैठ गया तो ढेरी को कैसे संभाल सकूंगा। इसीलिए अदिति ने अपने आप को ढककर दीति को मेरे कारबार की तरफ धकेल दिया है। मेरे कारबार को चलाने के लिए मेरे भीतर स्थित शुद्ध चैतन्य स्वरूप ने अपनी दोनों पत्नियों – अदिति और दीति को दे दिया है। इसीलिए मैं अपने आप से हमेशा कहता हूँ कि तुम्हारे अन्दर पूर्ण चैतन्य सदा ही रहते हैं किन्तु तुमने अपने कारबार के लिए उसे खण्ड-खण्ड कर दिया है। इस प्रकार अविरत आत्महिंसा चलती रहती है। जपसूत्रम में हिंसः एवं सिंहः इन दोनों की तुलना का विस्तारित विवरण दिया गया है। उसके बीच से अति सामान्य इस कारबारी बोध का अपने साथ विश्लेषण करता रहता हूँ। 'ह' महाप्राण वर्ण है उसे इकार द्वारा ऊर्जित करके एवं अनुस्वार जोड़कर केंद्रित किया गया। मूल में संचित उसी शक्ति को तुम दन्त्यस द्वारा खंडित कर रहे हो। पूरे को जानकर तुम्हारा काम नहीं होता है इसीलिए उसे हमेशा खंडित करके जानते हो, पाते भी हो। इस तरह आत्मा को लगातार काट रहे हो। और भी थोड़े स्थूल अर्थ में कहा जाए। तुम्हारा मन तो आत्मकेद्रित है। इस क्षुद्र 'मैं' के घेरे से बाहर सभी से ईर्ष्या कर रहे हो। लेकिन 'मैं' तो दरअसल छोटा नहीं है। वह तो विराट है। अतः तुम उस विराट

'मैं' से ही ईर्ष्या कर रहे हो। महाप्राण को खंडित करना, छिन्न करना ही हिंसा कहलाता है और इसी का फल होता है मृत्यु की तरफ भागना। कोई Charge जैसे अपने 'आकर' (Generating Source) से उत्क्षिप्त होकर High Potential हो रहा है। फिर वह 'प्रक्षिप्त' या 'निक्षिप्त' हो रहा है। मानो एक खड्ग जमीन पर पड़ा हुआ है, उसे उठाया, फिर जोर से किसी वस्तु पर उससे वार किया। यही 'हिंस आकृति' है।" (जपसूत्रम्)

मृत्यु से जीवन की ओर उसकी गति कैसे बदली जा सकती है? हिंस को उलटकर सिंह में रूपान्तरित करके। दन्त्यस अर्थात खण्डित छिन्न वृत्ति दिति को इकार द्वारा इद्ध किया गया एवं अनुस्वार लगाकर शक्ति केन्द्रीभूत हुई। उसके बाद महाप्राण 'ह' में समर्पण करना ही सिंहः होता है। जपसूत्रम की भाषा में (दूसरा खण्ड 170 पृष्ठ) "जो प्रक्षिप्त (Discharged subtracted) है उसे शक्ति के मूल आधार में फिर से लौटा लाना होगा।" क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ इन तीनों चित्तवृत्तियों को एकाग्र और निरुद्ध किया। यही 'सिहः' आकृति है अर्थात दिति को अदिति के चरणों में समर्पित करना, जैसे माँ के चरणों के नीचे सिंह। वह उस समय देवी की प्रतिमा का ही एक अंश हो जाता है। अतः उससे हिंसा नहीं। सारा विश्व ही एक चलचित्र से घिरी एक प्रतिमा की तरह होता है। उसी में तुम, मैं, वह – सब कुछ समाया रहता है। उसकी ज्योति का एक कण तुम्हारे मुख पर आकर पड़ा और तुम्हारे भीतर का झरना खुल गया। तुम्हारे भीतर से सुन्दर, मधुर, सत्य प्रकाशित हुआ। तुम्हारे चैतन्य का भण्डार जरा सा खुला - उसी में से तुमने देखा कि तुम उसी एक के अंशमात्र हो, तुम्हारी अलग कोई सत्ता नहीं है। 'मैं' संभव है जन्म जन्मांतर से, युग-युग से छाया से घिरा रहा फिर भी 'मैं' उस सत्ता से विच्छिन्न नहीं हुआ। उसी एक से बँधा रहा। यह विराट 'मैं' कौन है? यदि इस पर विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि शब्द रूप जो ब्रह्म है, उसके सभी वर्णों का जहाँ समन्वय है - 'अ' से 'ह' तक सम्पूर्ण वर्णमाला एकत्रित होकर अनुस्वार लगाकर एक बिन्दु में जिस स्थल पर केन्द्रित हुआ है वही यह अहं है। अतः प्रकृत अहं तो अयमात्मा ब्रह्म ही हैं या सोऽहं ही है।

जो 'मैं' सदैव सांसारिक वस्तुओं में रमा हुआ है, रक्त, मांस के इस शरीर के प्रयोजनों को लेकर सदा व्यस्त रहता है वह इस 'विराट मैं' की खोज कहाँ से कर सकता है? किन्तु इतनी निराशा के बीच भी अंतः से कोई कहता रहता है – माभैः।

यह जो ऊंचा, तुंग गिरि श्रृंग है, जहां रजत शुभ्र मेखला पहने देवादिदेव महादेव समासीन हैं, उनकी चरण वन्दना करना और उनका आश्रय प्राप्त करना तुम्हारे लिए संभव नहीं हुआ, होना सम्भव भी नहीं है, परन्तु उनसे निकलकर जो मन्दाकिनी बह रही है वह तो महादेव के चरणों को छूकर अखण्ड रसज्योतिपूर्ण है! उसी में ही क्यों नहीं नहाते? मर्त्यलोक के मिट्टी के बने मनुष्यों के लिए ही तो वह इस धूल में अवतरित हुई है – कभी स्रोतस्विनी के रूप में तो कभी साधु महात्माओं के रूप में।"

नान्याः पन्था विद्यते अयनाय

पश्चिमी सम्भता का एक मंत्र वर्तमान युग के लोगों के मन में भीतर तक पैठ गया है – 'Eat, drink and be merry' परन्तु भोग-विलास की चरम सीमा पर पहुँचने के पश्चात भी शान्ति कहाँ प्राप्त हो पाती है? हम मनुष्य हैं हमारी युक्ति एवं बुद्धि ने ही हमें प्राणीजगत में हमें सर्वश्रेष्ठ होने की विशिष्टता प्रदान की है। अपनी युक्ति एवं बुद्धि का प्रयोग करके हमने अनेक प्रकार की सुख-सुविधाओं तथा भोग-विलास के साधन एकत्रित करने का प्रयास किया है और आज भी कर रहे हैं। ग्रह-नक्षत्र से लेकर जीव-जगत, अणु-परमाणु तक कितने ही रहस्यों के उद्घाटन की चेष्टा हो रही है। परन्तु अपनी तरफ देखकर अपने बारे में जो रहस्य हैं उनकी जानकारी कब प्राप्त होगी और किस यंत्र की सहायता से? हम क्या चाहते हैं? हमारा सच्चा सुख किस में है? अपने संबंध में समझने-बूझने की कोशिश नहीं करके जीवन की योजनाएँ बना ली हैं। इसलिए श्रम का व्यर्थ होना स्वाभाविक है। अपने घर के रहस्य को न जानकर दूसरों के घर के रहस्य को जानने की चेष्टा करने पर स्वस्ति नहीं होती। अपनी प्रतिकृति स्वयं देखना चाहें तो चिंतन की आवश्यकता होती है। चिंतन ही अधिक गहन होने पर धारणा बन जाती है। धी या बुद्धि स्वच्छ होने पर और स्वभाव में रहने पर ध्यान होता है। और धारणा भी जैसे-जैसे गहन होती जाती है बुद्धि भी वैसे-वैसे स्वभाव प्राप्त करती जाती है।

हमारे भीतर शुभ एवं अशुभ संस्कारों का मिश्रण रहता है इसीलिए सत्संग मिलने से मन में दैवी भाव का उदय होता है परन्तु दूसरे ही पल विरोधी भावों के साथ अशुभ संस्कार उदित हो जाते हैं और फलस्वरूप दैवी भाव लुप्त हो जाते हैं। इसका मूल कारण होता है सुर और असुर का मिश्रण। जो भाव नित्य, स्थायी होते हैं। स्थान, काल, अवस्था की वजह से उन भावों में परिवर्तन नहीं होता है। उदाहरणस्वरूप हीरा को लें। हीरे का जन्म कोयले से होता है, लेकिन कोयले से निकाल लेने के पश्चात हीरे की चमक अलग ही होती है। उसकी स्वाभाविक उज्ज्वलता को धूमिल करने की क्षमता किसी में नहीं होती।

अपने आप को पहचानने के लिए पहला प्रश्न होता है मेरा स्व-भाव कैसा है? स्वभाव जिस प्रकार से चलाना चाहता है उसी भाव से चलने पर मन को शान्ति मिलती है। चूंकि पार्थिव भोगों में ही शान्ति मिलती है इसलिए हम उसी पथ पर चल पड़ते हैं। परन्तु पता चलता है कि यह तो राहु का ग्रास है। उसका सिर नहीं होता, पेट भी नहीं इसलिए किसका पेट भरें। जितना भी उसके मुँह में डालो, उसका पेट भरता ही नहीं है। उसका काल सिमट जाता है परन्तु भूख नहीं मिटती, बढ़ती ही चली जाती है। इसका एक ही उपाय है – राहु के ग्रास से मुक्ति। राहु होता है काम अर्थात आत्मेन्द्रिय तर्पणेच्छा। उसे प्रेम में अर्थात कृष्णेन्द्रिय प्रीति की इच्छा में रूपान्तरित करना ही मन को राहुमुक्त करना है। जो हमें निरन्तर अपनी ओर आकर्षित करते हैं वे ही कृष्ण हैं। हृदय में जो मार्धुयवृत्ति रहती है वह अपने स्वाभाविक धर्म

से किसी के प्रति स्वयं को उड़ेल देने के लिए सदैव उत्सरित होती रहती है। परन्तु वह अपनी ही एक परिधि बनाकर स्वभाव धर्म को बांध कर रखती है। यह परिधि निर्माण ही माया है। इसीलिए वह आबद्ध है। इस प्रकार स्वभाव धर्म को अवरुद्ध करके रखना ही समस्त दुर्भावनाओं के मूल में है। इस स्वकपोलकल्पित सीमा में उसका जो रस या मधु है उसे वह जितनी बार देने की कोशिश करता है क्या दे पाता है? वह अपनी ही ओर व्यर्थ होकर वापस आ जाता है। इसीलिए गुमान से फूलता रहता है।

निरन्तर आकर्षणकारी 'कृष्ण' हैं मनुष्य के समस्त मधु को तब तक शोषित करते रहते हैं जब तक वह स्वयं को कृष्ण से अलग मानता है। इसीलिए तो अमृत की सन्तान होने पर भी उसके भीतर से जरा सा भी अमृतक्षरण नहीं होता। तुम्हारे पास उनका जो ऋण है उसी ऋण से धन लेकर तुम किसको दान करोगे? तुम तो स्वयं दिवालिया हो। अपने आप को प्रभु के चरणों में संपूर्णतः समर्पित कर दो, क्योंकि ऋण कहां से चुका पाओगे? क्या तुम्हें राजा बलि की कहानी याद नहीं है? मात्र तीन पग भूमि दान करने के लिए उन्हें अपना मस्तक तक सौंपना पड़ा था। मैं परमात्मा से अलग हूँ, यह बोध जब तक है तब तक तुमसे विष का क्षरण होता रहेगा। एक पल के लिए भी शान्ति नहीं मिलेगी - कहीं भी अभय नहीं रहोगे। भागकर कहाँ जाओगे? चलती हुई चक्की के साथ पिसते रहोगे – वासना, कर्म, भोग फिर कर्म इस प्रकार चक्कर काटते रहोगे। उसके अक्षदंड को पकड़कर क्या चक्कर की गति को रोक सकोगे? जिस 'मैं' को इतना प्यार करते हो वह तो तभी तक है जब तक शरीर है। इस 'मैं' में रोग होते हैं, भोग होते हैं, इसकी मृत्यु होती है फिर से जन्म होता है। इस चक्कर में ही घूमते रह जाओगे। परन्तु 'मैं' जब आत्मा हो तो उसका न तो जन्म होता है और न ही मृत्यु। अतः न तो डर होता है और न ही किसी प्रकार की अशान्ति। यह बोध ही उसका अक्षदण्ड होता है और तब वह नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अमृत पुत्र बनता है।

'मैं तुम्हारा हूँ' यह कहकर अपने आपको महाजन के हाथों बेच दो। तुम्हारे भीतर से मधु क्षरण होगा। अमृत को स्मरण करके जो कुछ भी करोगे वही अमृत होगा। सारा विष प्रभु स्वयं ग्रहण कर लेंगे और तुम राहुमुक्त हो जाओगे। आत्मा का परमात्मा में रमण करने की इच्छा ही प्रेम कहलाता है। उसी में सुख होता है। 'नाल्पे सुखम आस्ति' – उससे कम में सुख नहीं है। भूमा ही सुख है। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श ये पाँच विषय जो हमेशा मन को चंचल किए रहते हैं, इनसे मन को विरत किए बिना सच्चे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अब यह प्रश्न उठता है कि जब तक अन्य किसी में मन को निरत नहीं किया जाए अर्थात मन न लगाएँ तब तक विषय रस से विरत नहीं हुआ जा सकता है। जो मन विषय रस में मत्त हो वह तो आत्मा-परमात्मा को पहचानता ही नहीं है। अतः उस मन को आत्मा के साथ जोड़ना सम्भव ही नहीं होता। मनुष्य के उद्धार के लिए जो गुरु रूप में प्रत्यक्षतः प्रकट हैं उन्हीं गुरु के चरणों में मन को लगाना ही एक मात्र उपाय है। संसार में जिनके प्रति हम आकृष्ट होते हैं वे एक घेरे में बँधे रहते हैं, परन्तु जो सद्‌गुरु होते हैं उन्हें तो किसी भी घेरे में बाँधकर नहीं

रखा जा सकता। वे जिस तरह हमारे हृदय में रहते हैं उसी तरह सभी प्राणियों के भीतर रहते हैं। इसीलिए वे गुरु (बड़ा) होते हैं। इसीलिए भूमा होते हैं। उनके चरण पकड़ कर सागर के जल में उतरो तो तुम्हारे भीतर का सारा मैल निकल जाएगा। उसके बाद तुम्हारा मन इस सांसारिक प्यार और स्नेह की बूंदों से नहीं भरेगा। वह पानी पर बनाए गए चित्र के समान होगा। अभी बनाया और अभी खत्म। जिससे प्रेम करो उसे जानो, पहचानो। उसे अपने भावों के फ्रेम में बाँधकर रख लो। तुम्हें इसलिए प्रेम नहीं करता हूँ कि तुम अच्छे लगते हो, बल्कि तुम्हीं एक हो जिसे अपना हृदय अर्पित किया जा सकता है। केवल प्रेय नहीं श्रेय भी और केवल श्रेय नहीं प्रेय भी।

जिसकी सेवा में हम निरन्तर लगे रहते हैं वह वस्तुतः क्या है? वह केवल देह नहीं, मन भी नहीं – उसके मूल में होती है – आत्मा। देह प्राप्त करने से ही आत्मा का शोधन सम्भव होता है। देह के बिना साधना नहीं होती। जिस प्रकार से मूर्ति स्थापना के लिए मन्दिर का होना आवश्यक होता है उसी प्रकार इस देह को भी देवायतन के रूप में मानना होगा। पशुओं की तरह भोगायतन नहीं। केवल इन्द्रियों को सर्वस्व नहीं मानना चाहिए। मनुष्य का मन होता है, बुद्धि होती है, अहंकार होता है। देवायतन में सब कुछ का शोधन होता है, संस्कार होता है। अहं रहता है किन्तु चैतन्यावस्था में रहता है। भगवान के भक्त के रूप में अथवा माँ की सन्तान के रूप में। वाक्, मन और प्राण जब एक ही सुर में और छन्द में समतानता प्राप्त करते हैं तब उसके बोध का भी शोधन हो जाता है और वह यह कहता है – "मैं तो छोटा नहीं, विराट हूँ।" उदार, मुक्त अहं उसे पहचान पाता है। उसे प्रत्येक जीव, प्रत्येक अणु एवं परमाणु में उस एक विराट की ही ज्योति दिखाई देती है। हृदय रूपी मन्दिर में परमात्मा रूप में जो रहते हैं, उन्हें केवल अस्तिरूप में नहीं, भातिरूप में भी नहीं, प्रियतमरूप में प्राप्त करना होगा – तभी तो आनन्द प्राप्त होगा! "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।"

बिन्दु की खोज

नीलाचल आए हो, समुद्र देखने के लिए, जो उस विराट का विशाल रूप है। इसके लिए नीलाचल क्यों आना पड़ा? समुद्र क्या और कहीं नहीं है? विराट-विपुल की बात क्या केवल समुद्र ही करता है – और कहीं नहीं मिलती? तुम्हारे सामने जो वृक्ष खड़ा है उसकी तरफ देखो तो क्या उसके भीतर असीम का कोई सन्देश नहीं प्राप्त हो रहा है तुम्हें? यह जो असंख्य पत्रों-पुष्पों से शोभित हो रहा है और साथ ही और भी कितने लाख पत्तों एवं पुष्पों की संभावना लिए हुए है, इसकी कठोर जड़ में संचित है कभी समाप्त न होने वाला रस अर्थात भविष्य की संभावनाएं। एक पत्ता झड़ जाता है, उसके स्थान पर नया पत्ता उग आता है। इस प्रकार प्रतिदिन, प्रतिमास, प्रतिवर्ष यह पुनरावृत्ति होती रहती है। ठीक वैसे ही जैसे समुद्र की एक-एक तरंग। मानो प्रत्येक तरंग नई हो और सभी का अपना एक वैचित्र्य हो। जैसे एक विशाल जन-समुद्र की तरफ देखने पर एक समानता दिखाई देने पर भी एक असमानता अपने वैचित्र्य के साथ विद्यमान है। इसी के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग पहचान होती है। प्रत्येक रचना विचित्र, नवीन दिखाई देती है।

इस प्रकार तुम जिस तरफ भी देखते हो, उस तरफ का जो दृश्य तुम्हारी आँखों के समक्ष आता है वह तो केवल एकतरफा स्वरूप होता है। बहुत कुछ तो तुम्हारी नजरों के सामने में आता ही नहीं है। समुद्र के किनारे आकर खड़े हुए। अपने नेत्रों की सारी शक्ति लगाकर जितनी दूर तुम देख सके तुमने देखा। उसके बाद देखना तुम्हारे नेत्रों की क्षमता के बाहर की बात है। इसीलिए तुमने समुद्र को सीमाहीन की संज्ञा दे दी। परन्तु तुम्हारे मन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया और समुद्र की एक सीमारेखा खींचकर समुद्र के समग्र रूप की पूरी छवि देख ली। इसी प्रकार यदि वैज्ञानिक की दृष्टि से समुद्र को देखते तो पाते की कितने ही गोपन रहस्य सागर के तल में छिपे हुए हैं। सागर तल में पड़े हुए एक छोटे से पत्थर को लेकर अनुसन्धान किए जाते हैं, वह पत्थर भी तो उस विराट का ही संदेश वहन करता है। असंख्य अणुओं एवं परमाणुओं से बनता है पत्थर। पर उसका अन्त कहाँ होता है? वह पत्थर होकर ही शायद एक ही स्थान पर सदा पड़ा नहीं रहता है। परंतु उसका केवल रूपान्तर होता है। उसकी सीमा और उसका अन्त तुम जान ही नहीं सकते हो।

कहा जाता है कि हम विष्णुमाया की वजह से जन्म लेने के साथ-साथ सब कुछ भूल जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो यह संसार जैसे चल रहा है वैसे चल नहीं पाता। कर्म की शक्ति ही समाप्त हो जाती। आज यदि तुम्हारे जीवन के आवागमन की एक छवि तुम देख पाते अर्थात पूर्व-जन्म की कहानी एवं भविष्य की गति, परिणति एक साथ तुम्हारे समक्ष उपस्थित होती तो जीवन का सारा उत्साह, उद्दीपन समाप्त हो जाता। इस प्रकार सृष्टि चल ही नहीं सकती और इसीलिए यह व्यवस्था रची गई है।

सारे प्राणी अप्राप्ति तथा अतृप्ति के बीच घूमते रहते हैं। वे क्या चाहते हैं। किसे प्राप्त करना चाहते हैं, इसकी जानकारी ही नहीं है उन्हें। परन्तु वे जिसे खोजते हैं, उसी के बीच वास करते हैं। वह अपने अंतर और अपने बाहर सभी स्थानों पर अपनी कामना को लेकर घूमता है। पागल मनुष्य 'पारस पत्थर' को सामान्य पत्थर का टुकड़ा समझकर फेंक भी देता है, क्योंकि वह पारस पत्थर को पहचानता ही नहीं है। कितने तीर्थ स्थानों पर, कितने ही मन्दिरों में, पुस्तकों में खोजता फिरता है परन्तु क्या प्राप्ति होती है उसे? साधु, सन्त, शास्त्र आदि सभी एक बात कहते हैं, परन्तु मनुष्य की अतृप्ति समाप्त नहीं होती, उसकी खोज भी समाप्त नहीं होती। साधु, सन्त, शास्त्र जो कुछ भी कहें, जब तक अपने मन से, अपने प्राण से यह बात नहीं निकलती तब तक बात पक्की नहीं होती। खाद्य सामग्री का नाम सुनकर या देखकर स्वास्थ्य में सुधार नहीं आता। वह खाद्य खाकर, हजम होने के बाद जब रक्त में मिलकर शरीर की शिराओं, उप शिराओं में प्रवेश करता है तब शरीर को शक्ति प्राप्त होती है और शक्ति की चमक चेहरे पर भी दिखाई देती है। जिस पतितपावन का नाम एक बार उच्चारण करने पर ही जीव का उद्धार हो जाता है, उस नाम का जाप लाख बार क्यों करना पड़ता है? उसके पीछे भी वही कारण है। जप जब तक प्राण से नहीं निकलता तब तक वह शुद्ध रूप से उच्चरित ही नहीं होता। जीभ और कण्ठ से जो नाम का उच्चारण करते हैं वे अनवरत व्यर्थ वाक्यों का भी उच्चारण करते रहते हैं, क्योंकि उसका शोधन नहीं होता है। अतः भीतर प्राण से अर्थात जपसूत्रम में जिस उत्तम पुरुष के बारे में कहा गया है वे जब नाम का उच्चारण करते हैं तब चित्त के विकार एवं सकल प्रकार के मल धुलते हैं। जो अनिश्वर आत्मा है वह शुद्ध होकर आनन्द प्राप्त करती है।

उत्तम पुरुष तो सोई हुई अवस्था में रहते हैं। उन्हें जगाना होगा। लाखों बार जप करके, जन्म-जन्म तक उन्हें जगाना होगा। उनके नहीं जागने तक तुम्हारी छुट्टी नहीं। तीर्थ स्थानों पर जाकर, साधु-सन्तों का संग करके, मन्दिरों में दर्शन करके, कथा सुनकर, पुस्तकें पढ़कर जो कुछ भी हुआ वह तो नाना मतों एवं विचारों का संग्रह मात्र हुआ, अतः वह स्थायी कहाँ हो पाया? सब कुछ मिलाकर एक छवि तुम्हारे समक्ष उजागर हुई। किन्तु इस छवि से क्या मिला! अतः सत्संग और सत्कर्म को अंतर्मन से ग्रहण करो एवं उसे परिपक्व होने दो अर्थात उसे बैठ जाने दो तभी तो संस्कार होंगे। तुम्हारे अन्दर के अशुभ संस्कारों की वजह से जो चेतना जड़ हो गई है, उसका मार्जन, परिष्करण और शोधन करने के लिए शुभ संस्कारों का इलेक्ट्रिक चार्ज (Electric Charge) अर्थात हृदय में ग्रहण करना आवश्यक होता है। भीतर जो शक्ति का भण्डार है वह तो पूरा ही है परन्तु वह अकर्मण्य हो गया है, अतः शक्ति कुछ काम नहीं कर रही है। तुम्हारी समस्त इन्द्रियाँ ही अकर्मण्य हैं, अतः जो चीजें जैसी हैं उन्हें वह उस रूप में देख नहीं पाती। जिसे जिस तरह से सुनना चाहिए वह सुन नहीं रहा है। तुम्हारे देखने और सुनने में कोई मेल नहीं रह पाता है। मस्तिष्क रोग (Aphasia Amnesia) या अन्य सब मस्तिष्क रोगों के लिए डाक्टर इलेक्ट्रिक शॉक (Electric Shock) देते हैं। इसका अर्थ भी

तो वही हुआ। शक्ति है परन्तु वह अर्कमण्य हो गई है। अतः इलेक्ट्रिक शॉक (Electric Shock) द्वारा उस स्नायु तंत्र (Nervous System) को ठीक करना जरूरी है। यह हुआ स्थूल को उपयोगी बनाना। सूक्ष्म को उपयोगी बनाने के लिए बाह्य यंत्रादि ज्यादा उपयोगी नहीं होते। भीतरी यंत्रों के द्वारा चार्ज (Charge) करके दीर्घकालीन भ्रान्तियों, विस्मृतियों से प्राण को जगाना होगा। जपसूत्रम में सूर्य के सूत्र से जिस यज्ञ की बात कही गई है, प्राण रूपी सूर्य को जगाने के लिए उसी यज्ञ की आवश्यकता है। यज्ञ को किस तरह से 'जय' में रूपान्तरित करना होता है वही विशेष ध्यान देने योग्य बात है।

इन्द्रियाँ जो कुछ ग्रहण करती हैं, वह सब कुछ यदि यज्ञ के अर्पण हेतु बनाया जा सके तो समस्त अशुभ, अपवित्र का शोधन एवं संस्कार हो जाता है। अन्नरूप में जो कुछ हम ग्रहण करते हैं उसमें भी नारायण स्वयं रहते हैं और पेट की अग्नि को शान्त करते हैं। यह अग्नि शरीर को शक्ति प्रदान करती है। यदि हम अन्न ग्रहण करते समय यह बात मन में धारण कर लें तो आहार और रसना का भोग नहीं योग होता है। इस प्रकार जीवन के सभी स्थलों पर यज्ञ करना होता है एवं भीतर की शक्ति के रूप में जो अर्जित होता है या होता रहता है उसका अपचय नहीं हो इस तरफ ध्यान रखना होता है। व्यर्थ ही वाक् के रूप में एवं व्यर्थ ही सांस के द्वारा शक्ति का अपचय होता रहता है इसलिए वाक् एवं सांस को विशेष रूप से संयत रखने के बारे में विभिन्न स्थानों पर कहा गया है।

अपने उपकरण (apparatus) को ऐसा उपयोगी बना लें ताकि वह विपुल को देख सके। फिर तुम्हें नीलाचल में क्यों एक बिन्दु शिशिर में भी उस विपुल विराट का पता मिलेगा। बिन्दु और सिन्धु में कोई भेद नजर नहीं आएगा। तुम स्वयं भी क्षुद्र नहीं हो अपितु विराट हो। तुम्हारे भीतर कितना बड़ा भण्डार छिपा है तुम्हें स्वयं इसकी जानकारी नहीं है।

आत्मैवेदं सर्वम

देह, मन और प्राण इन तीनों को मिलाकर हमारी आत्मा की सत्ता होती है। प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष इन तीनों के साथ बाह्य जगत का सम्पर्क तथा कारबार होता है। मैं और हम हर समय दूसरों के समक्ष उत्तम पुरुष बनकर रहते हैं। मेरे साथ जिसका अत्यन्त निकट सम्पर्क होता है वह मध्यम पुरुष का होता है। प्रथम पुरुष हमेशा दूर विच्छिन्न सत्ता में रहता है। मध्यम पुरुष के रूप में गुरु साधारण जीव के निकट सागर का संदेश लेकर आते हैं। जिस प्रथम पुरुष को मैं खण्ड-खण्ड सत्ता के रूप में देखता हूँ उसके लिए वे कहते हैं– 'मैं खण्ड नहीं पूर्ण हूँ।' राम, श्याम सभी के भीतर वे पूर्ण विराजमान रहते हैं। 'मैं' – 'मेरा है' के रूप में एक खाई में वास करता है। उसके सामने संस्पर्श में जो 'तुम' है उसको भी 'तुम्हारा' है कहकर एक घेरे के भीतर रखा है। सागर का संदेश उसने नहीं सुना। जो स्वयं एक कूप में निवास करता है वह कैसे सोच सकता है कि पृथ्वी के अन्य लोग कूप से बाहर किसी बड़े स्थान में निवास करते हैं।

सागर का संदेश लेकर सागर का कोई वासिन्दा तुम्हारे निकट आए तो तुम्हारे मन में उसके प्रति विश्वास रहना चाहिए अर्थात उसकी बात मान लेनी चाहिए। पहले मानना और फिर जानना चाहिए। किसी भी बात को प्रमाण द्वारा, परीक्षा द्वारा मानने के लिए हमें क्या करना होता है? पहले किसी के द्वारा परीक्षित सत्य पर विश्वास करके उसी सिद्धांत पर चलना होता है। उसी प्रकार जीवन के क्षेत्र में भी कुछ सत्य पर विश्वास कर उसी को आधार बनाकर चलना होता है। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो चूँकि हमारा मन सर्वदा चंचल रहता है, अतः जब तक हमारे समक्ष कोई आधार या लक्ष्य नहीं होगा, अथवा जब तक हम किसी को मजबूत हाथों से पकड़ कर नहीं रखेंगे तो पालहीन नौका की तरह इधर-उधर हिचकोले खाते रहेंगे और जिस तरफ नदी का स्रोत होगा, उसी तरफ बह जाएँगे। प्रत्येक व्यक्ति का मन एक शक्तिशाली, दृढ़ आश्रय चाहता है। इसीलिए जीवन में सदगुरु की आवश्यकता होती है। माता-पिता, बन्धु-बान्धव इन सबके साथ सम्पर्क तो तब तक रहता है जब तक यह शरीर रहता है। जो वास्तविक रूप में गुरु होते हैं उनके साथ जन्म-जन्मान्तर एवं अनन्त काल तक सम्पर्क रहता है। इसीलिए किसी को अपना बनाना हो तो एकमात्र उन्हें ही बनाओ। वे स्थान, काल किसी के द्वारा भी सीमाबद्ध नहीं होते। जो सागर का संदेश ढोकर लाते हैं, वे सागर से भिन्न नहीं अपितु वे तो स्वयं सागर होते हैं। जो तुम्हारी आत्मा के कल्याणकारी होते हैं वे ही तुम्हारे इष्ट होते हैं। गुरु के रूप में जो प्रत्यक्ष होकर तुम्हें ईश्वर का नाम सुनाते हैं वे इष्ट या ईश्वर से अलग नहीं होते। "नर त्राण तरे हरि चाक्षुस हे।"

जो तुम्हें सागर का संदेश सुनाते हैं वे सागर के ही वासिन्दा होते हैं। उनसे तुम केवल सागर की कहानी ही सुनोगे और अपनी खाई को सागर के जल से भरने के लिए व्यस्त रहोगे।

किन्तु यह जल समाप्त होने में कितने दिन लगेंगे? तुमने यह 'मैं' और 'मेरा' कहकर जिस खाई की रचना की है, उसके भीतर के रस को लेकर समय काटते हो, वह वास्तव में क्या है। इसकी जानकारी है तुम्हें? वह सागर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तभी तो वह सागर से वाष्प बनकर आकाश में उड़ जाता है और फिर घनीभूत होकर जल के रूप में नीचे सागर में मिल जाता है और तुम्हारी खाई को समय-समय पर भरता रहता है। ऐसा नहीं होता तो इतनी सी शक्ति लेकर इस खाई के भीतर तुम्हारा बच पाना सम्भव हो पाता? भले ही वह कुछ दिनों के लिए ही हो।

अब जरा तुम अपनी तरफ पलटकर देखो। तुम जब सुन्दर, सुसज्जित पत्तों और फूलों से सजी इस लता की तरफ देखते हो तो तुम्हारी दृष्टि के सामने और मन के पर्दे पर और भी कितने ही चित्र आ कर उपस्थित होते हैं। एक टुकड़ा आकाश, कितने ही वृक्ष, लता इत्यादि चित्र रूप में दिखाई देते हैं। वृक्ष से जब एक पक्षी उड़ कर जाता है तो तुम्हारे मन में यह बात आती है कि इस लता के साथ-साथ यह वृक्ष भी तो तुम्हारे सम्मुख आया था। केवल इतना ही नहीं कितने ही शब्द, गन्ध, स्निग्ध वायु का हल्का सा स्पर्श, हृदय में रक्त का प्रवाह, कितनी ही शारीरिक क्रियाओं की अनुभूति तुम्हें होती है। मन में उठने वाली कितनी ही चिन्ताएँ और कितने ही गंभीर एवं जटिल प्रश्न तुम्हारे अवचेतन मन में आते हैं जिसका कोई हिसाब ही तुम नहीं रख पाते हो। इन सब की विशालता तुम्हारी बुद्धि से बाहर है। अतः तुम जिसे 'मेरी सत्ता' कहकर सीमाबद्ध करते हो, उसे खंडित रूप में देखते हो, उसके भीतर ऐसा कुछ तो अवश्य है जिसे तुम खंडित करके, सीमाबद्ध करके अपने बोध-जगत के दायरे में समेट नहीं पा रहे हो। यही सागर है। तुम्हारी सृष्टि का मूल यहाँ सुप्त अवस्था में है। इसे ही भूमा कहते हैं। तभी तो तृप्तिहीन भूख एवं प्यास से वह कातर हो गया है। कूपमंडूकता का स्वभाव लेकर भी थोड़े से में वह कहाँ संतुष्ट रह पाता है? उसे तो और भी अधिक की आकांक्षा होती है। भोग की यह जो तृप्तिहीन प्यास है वह भी असल में भूमा को ही खोज रही है, उसे चाह रही है।

अनुभूति की जो पूरी छवि मन के पर्दे पर अपनी छाया छोड़ जाती है, सांसारिक व्यवहार के समय उस समग्र अनुभूति की तरफ नजर रखने से क्या काम चल जाता है? थोड़ी बहुत की तरफ हम ध्यान दे पाते हैं बाकी तो होते हुए भी न होने की तरह रहती है।

प्यास से बेचैन होकर सागर के तट पर खड़ा हुआ हूँ किन्तु सागर का यह जल पीने लायक कहाँ है? इसी तरह प्रति पल अपने भीतर पूर्ण का आभास होता है परन्तु इतनी भाग-दौड़ करने के बाद भी अपने भीतर के उस पूर्ण से मिल नहीं पाता हूँ। इसका कारण यह है कि अविद्यारूप मूल से जिस वृक्ष का उद्भव हुआ है उसका तना ही अस्मिता है और राग तथा द्वेष उसकी दो शाखाएँ हैं। अस्मिता अर्थात 'मैं' और 'मेरा रूप'। इसके प्रति राग और उसके बाहर प्रथम पुरुष के रूप में जो कुछ है उसके प्रति द्वेष। किंतु अनुभव की छवि जब मन के कैमरे पर प्रकट होती है, उस पल उसका 'मैं' और अनुभूति के विषय को लेकर कोई भेद नहीं

रहता है। केवल एक अनुभूति मात्र रहती है। उसके पश्चात जब बुद्धि की तूलिका से वही छवि आंकने बैठता हूँ तो समग्र की कोई पूर्ण छवि नहीं आंक पाता हूँ। तब वह खंडित एवं परस्पर विरोधी बन जाती है – अर्थात तब यह कहता हूँ कि यह आकाश का अनुपम चित्र है। वह पक्षी का कलरव है, यह फूल की सुगन्ध है, वायु का हल्का सा स्पर्श है आदि। इस विरोध की वजह से वह अपने भीतर की पूरी सत्ता अर्थात आत्मा को महसूस नहीं कर पाता है। जो नित्य सत्य है उसी को प्रथम पुरुष कहकर अपने से दूर रखा है। मन, प्राण एवं आत्मा जिस चीज से समछन्दता बनाए रखे उसी में मानव जीवन की चरितार्थता है। वही भूमा को प्राप्त करने का उपाय है। जो यह उपलब्धि कर पाते हैं उनके भीतर का भेद दूर हो जाता है। वे सभी के भीतर भूमा का दर्शन करते हैं। ऐसी अवस्था में 'मैं', 'मेरा' के घेरे से निकलने के बाद परस्पर विरोधी सत्ता का बोध नहीं होता है। सब कुछ पूर्ण, सब कुछ भूमा, एक का ही विभिन्न रूपों में प्रकटीकरण दिखाई पड़ता है।

अहम् है, किन्तु वह मायामुक्त सदाशिव शिवोहम है। प्राणों का भी प्राण जो आत्मा है उसी में तो नित्य, शाश्वत एवं मूल अहम् है। साधारण व्यवहार क्षेत्र में वह मूल आत्मारूपी जो अहम है उसे अनजान, प्रथम पुरुष बनाकर दूर रख दिया है। उसे ही उत्तम पुरुष के रूप में पाने के लिए साधना की जाती है। इस कारबारी संसार में स्वतः परिवर्तनशील जो शरीर है, इन्द्रियों के अधीन जो मन है, अविद्यारूपी बुद्धि है और इन सबसे ऊपर जो अहंकार है उसे ही उत्तम पुरुष मान लिया है। इसे प्रथम पुरुष के रूप में पहचानना होगा। और मूल प्राणशक्ति के उत्स से निकलने वाली जो शक्ति इस देह रूपी यंत्र को प्राण रूप में चला रही है वही मध्यम पुरुष है। गुरुशक्ति के छन्द को प्राण के छन्द के साथ मिलाकर एक आदर्श छन्द बनाना होगा तभी स्वाच्छन्द्य अर्थात शांति मिलेगी। इस छन्द को विश्वछन्द के साथ मिलाने पर अपनी पूरी सत्ता का भी परिचय मिलेगा। यह दृष्टि प्राप्त होने पर दिखाई देगा – आत्मैवेदं सर्वम्।

साक्षी चेता केवलो निगुर्णश्च

चित्त की दो वृत्तियां होती हैं – एक पराक् और दूसरी प्रत्यक्।

साधारण जीव स्वभावतः पराक् प्रवण एवं बहिर्मुखी होता है। अपनी दसों इन्द्रियों से वह रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श का भोग करता है और उसके इस भोग की सामग्री जुटाते-जुटाते ही जिस 'मैं' का प्राणान्त होता है, साधारण प्राणी उसी भोगी 'मैं' से परिचित है। पूर्व जन्म के कर्मों के फल से संस्कार बनते हैं एवं उन्हीं संस्कारों के अनुसार फिर कर्म होते हैं।

दूसरी बात यह है कि 'साक्षी मैं हूं।' सारे क्रियाकलापों को वे चुपचाप देखते रहते हैं। तुम्हारे 'मैं' की पूर्ण छवि उनके पास रहती है। तुम्हारे कर्मों की, तुम्हारे भावों की, भावनाओं की छवि उनके पास रहती है, जिनकी जानकारी तुम्हें भी नहीं होती। और बाहर के 'मैं' के पास जो छवि रहती है वह टुकड़ों में बंटी हुई तथा कटी हुई रहती है। कारण वह तो अपने खेल में ही मत्त रहता है। कितने ही प्रकार के फल वह चखता है, कोई अत्यधिक मधुर एवं सुस्वादु और कोई कड़वा कसैला!

इस भोगी 'मैं' और साक्षी 'मैं' के बीच कोई मेल नहीं होता। केवल विरोध रहता है। एक द्वन्द्व रहता है। यह द्वन्द्व होता है श्रेय एवं प्रेय अर्थात शुभ एवं अशुभ प्रकृति का द्वन्द्व। यह द्वन्द्व समय-समय पर व्यक्ति विशेष के चरित्र में एक आकार धारण करता है। पराक् प्रवण चित्त वस्तु के सत्यरूप या स्वरूप को देखने नहीं देता। बहिर्मुखी मन सत्य को उसके साधारण रूप में ही देखता रह जाता है।

एक ओर तुम गेरुआ रंग में रंगे सन्ध्या के आकाश में अपने प्राणों के ईश्वर को देख पाते हो और दूसरी ओर तुम छोटी-छोटी बातों को लेकर व्यस्त रहते हो। यह सोचकर आश्चर्य होता है। किंतु जो 'मैं' केवल सायंकालीन आकाश में अपने प्रभु की छवि देखता है, मध्याह्न या मेघाच्छन्न आकाश में उन्हें नहीं देख पाता उसने आज भी अपने प्रभु को तुच्छ बनाकर ही रखा है और उन्हें अपने प्राणों का प्रभु नहीं बना पाया है। जिसका उदय होता है उसका अस्त होना भी निश्चित है। जो मन इंद्रियग्राह्य रूप, रस को लेकर मग्न रहता है उसे ही बहिर्मुख या अपरा प्रकृति कहते हैं। अपरा प्रकृति के अधीन होकर ही तो हम अपराधी हैं। बाहर को लेकर जो 'भोगी मैं' मग्न है वह विभिन्न फलों का स्वाद लेता हुआ घूम रहा है वही पराक् प्रवण है। साधारण प्राणी इसी श्रेणी का होता है। विभिन्न फलों के बीच रंगीन विषय फल भी तो हैं। अतः उसका परिणाम जो होना चाहिए वह हो रहा है। लेकिन उस मृत्यु से ही क्या सारी चीजें समाप्त हो जाती हैं। नहीं, एक साक्षी निरंतर जगा हुआ तुम्हारी सारी क्रियाओं को देख रहा है। तुम जिस समय गहरी नींद में सो जाते हो उस समय तुम्हारा यह 'भोगी मैं' भी अचेतन हो जाता है। उसके पश्चात जब गहरी नींद से तुम्हारा व्युत्थान होता है तब यही 'भोगी मैं' नए रूप में

आविष्कृत होता है और अपने नव जागृत रूप में कहता है 'यह हूं मैं।' किंतु तुम्हारा यह कारबारी 'मैं' जिन घटनाक्रमों की माला गूंथ रहा था,सुषुप्तावस्था में उसका धागा ही मानो खो जाता है। तुम्हें जगते ही उस धागे को कौन तुम्हारे हाथों में फिर से रख देता है? जिससे तुम्हें यह जानना बाकी नहीं रहता कि तुम्हारी माला का वह धागा अखंडित है और उसकी धारा रंचमात्र भी विच्छिन्न नहीं हुई है। नित्य जागरूक, चैतन्य तथा साक्षी रूप में जो तुम्हारे भीतर विराजमान हैं उनके साथ जब यह अबोध 'भोगी मैं' क्षणमात्र के लिए मिलता है तो उस समय 'मैं शरीर हूं', 'मैं मन हूं' जैसी अनित्य वस्तुओं पर उसके 'मेरे होने' का आरोप समाप्त हो जाता है और नित्य, शुद्ध, आनन्दस्वरूप आत्मा के साथ वह एकाकार हो जाता है। इसीलिए सुषुप्ति के बाद उसके पास एक परमतृप्ति की स्मृति के सिवा और कोई बोध नहीं रहता। उसके भीतर मूल भंडार का जो स्रोत रहता है वह क्षणिक स्पर्श से ही नया उद्यम, नई कर्मशक्ति प्राप्त करता है। यह 'भोगी मैं' क्षणमात्र के लिए उनसे मिलकर 'साक्षी मैं' के स्पर्श से इतनी तृप्ति प्राप्त करता है। किंतु इतनी सामान्य जमापूंजी से तो उसका नहीं चलेगा, इसलिए अपने मूल भंडार के साथ अपना संबंध बनाए रखने के लिए उसे अपने भीतर की ओर लौटना जरूरी है। इसे ही प्रत्यक् प्रवण कहते हैं। अर्थात वह जो 'साक्षी मैं' है और जो उसके स्वप्न और जागरण का नित्य साथी एवं सुहृद है उसकी ओर लौटना। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाहरी संसार को त्यागकर हमेशा ध्यानस्थ बने रहें। भोगी मैं को पहचानना एवं इन दोनों 'मैं' के बीच में जो विशाल दीवार है उसे हटाना ही अन्तर्मुखी होना कहा जाता है। यह कह देने मात्र से नहीं हो सकता। बाहरी जगत से पूरी तरह विच्छिन्न न होकर भी यह भाव हमेशा मन में बना रहे कि यह नित्य नहीं है। सर्वदा रज और तम के भंवर में फंसे रहने पर अनित्य ही नित्य दिखाई पड़ता है। जैसा कि प्रायः होता है। इसीलिए आत्मस्थ होना आवश्यक होता है। आत्मस्थ होने के लिए कुछ समय के लिए ध्यानस्थ होना पड़ता है। ध्यानस्थ हुए बिना मन को रज-तम के भंवर से बाहर निकालना संभन नहीं है। काम और भोग के बीच भी मन को समय-समय पर उन्नत कर स्व-रूप के बारे में सोचना आवश्यक है, अर्थात यह सोचना कि भोग इस शरीर द्वारा किया जा रहा है, मैं उसमें लिप्त नहीं हूं, मैं उससे ऊपर स्थित हूं। हम सब इस अतल लवणाक्त सागर में डूबते-उतराते उसकी तलहटी में चले जा रहे हैं किंतु कुछ ऐसे भी हैं जो लहरों के साथ उठते -गिरते हुए उत्ताल तरंगों के सामने माथा नीचे कर ईश्वर का स्मरण करते हैं। ऐसे लोग इस समुद्र में कभी नहीं डूबते। इस शक्तिशाली सागर के साथ जो बुद्धिमानी से लुकाछिपी का यह खेल खेलना चाहते हैं उन्हें अपने भीतर एक सुस्वादु-स्वच्छ सलिला सागर का संधान कर लेना पड़ता है। ऐसा नहीं होने पर उनके प्राणों की प्यास मिटेगी कैसे?

अपरा और अपकृष्टा प्रकृति अपनाकर हम साधारण जीव लवणांबुराशि से ही अपनी प्यास मिटाने का निष्फल प्रयास करते हैं, इसीलिए हम अपराधी हैं। इस अपराध से मुक्ति तब मिलेगी जब हम अपने सच्चे सहायक सुहृद 'मैं' को वास्तविक 'मैं' के रूप में पहचान पाएंगे। तो प्रश्न उठेगा कि क्या शरीर और मन कुछ भी नहीं है? सब मिथ्या है? परन्तु व्यर्थ कुछ भी

नहीं है। शरीर 'मैं' नहीं है अपितु यह मेरे परम सुहृद का मन्दिर है। भीतर जो प्रत्यगात्मा निवास कर रही है उसकी आवास भूमि यह शरीर है। यही भावना हमारे भीतर के दो 'मैं' के द्वंद्व को दूर करती है। इसीलिए वह साधना का परम धन है। शरीर, मन आदि किसी की भी उपेक्षा या अस्वीकार नहीं करें। लेकन इस समय हमारा यह पराक्-प्रवण चित्त हमारे हृदय में प्रत्यगात्मा रूप में निवास करने वाली सत्ता को अस्वीकार करके बैठा हुआ है और इस जराग्रस्त जीर्ण 'मैं' को अहं के आसन पर बिठाए हुए है – इसीलिए तो इतनी ज्वाला, छटपटाहट एवं वेदना है। प्रत्यगात्मा को जिस दिन मनुष्य अपने अन्तस्तल में प्राणेश्वर के रूप में अनुभव करेगा उस दिन वह प्रत्यक्प्रवण होगा। फिर अपराध नहीं होगा। अर्थात अपराध के अधीन नहीं रहेगा। जो अपने प्रियतम को अपने प्राणों के भीतर ही निरंतर खोज लेता है, वह फिर किस तृष्णा की पूर्ति के लिए बाह्य संसार की ओर देखेगा?